निराला एवं उनकी साहित्य रचना

(Nirala and his Literature Composition)

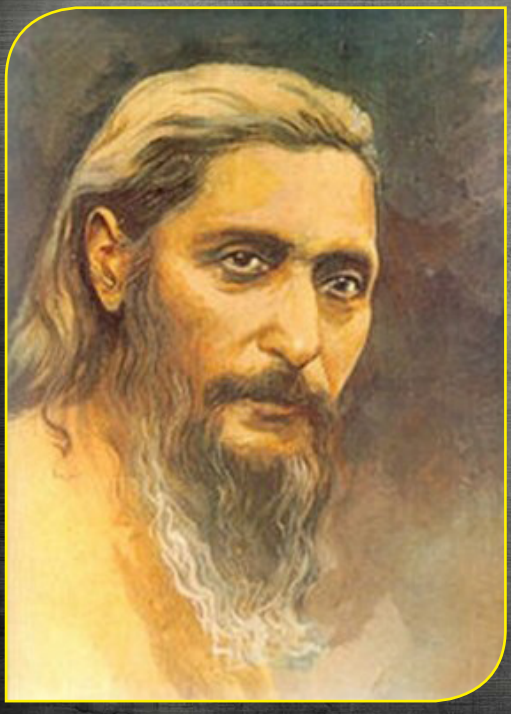

विकराल सिंह

निराला एवं उनकी साहित्य रचना

निराला एवं उनकी साहित्य रचना

(Nirala and his Literature Composition)

विकराल सिंह

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5653-0

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

निराला जी ने 1918 से 1922 तक महिषादल राज्य की सेवा की। उसके बाद संपादन स्वतंत्र लेखन और अनुवाद कार्य किया। इन्होंने 1922 से 23 के दौरान कोलकाता से प्रकाशित 'समन्वय' का संपादन किया। 1923 के अगस्त से 'मतवाला' के संपादक मंडल में काम किया। इसके बाद लखनऊ में गंगा पुस्तक माला कार्यालय और वहाँ से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 के मध्य तक संबद्ध रहे। इन्होंने 1942 से मृत्यु पर्यन्त इलाहाबाद में रह कर स्वतंत्र लेखन और अनुवाद कार्य भी किया। वे जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा के साथ हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं। उन्होंने कहानियाँ, उपन्यास और निबंध भी लिखे हैं, किन्तु उनकी ख्याति विशेष रूप से कविता के कारण ही है।

निराला की रचनाओं में अनेक प्रकार के भाव पाए जाते हैं। यद्यपि वे खड़ी बोली के कवि थे, पर ब्रजभाषा व अवधी भाषा में भी कविताएँ गढ़ लेते थे। उनकी रचनाओं में कहीं प्रेम की सघनता है, कहीं आध्यात्मिकता, तो कहीं विपन्नों के प्रति सहानुभूति व सम्वेदना, कहीं देश-प्रेम का जज्बा, तो कहीं सामाजिक रूढ़ियों का विरोध व कहीं प्रकृति के प्रति झलकता अनुराग। इलाहाबाद में पत्थर तोड़ती महिला पर लिखी उनकी कविता आज भी सामाजिक यथार्थ का एक आईना है।

सन् 1916 ई. में 'निराला' की अत्यधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना 'जूही की कली' लिखी गयी। यह उनकी प्राप्त रचनाओं में पहली रचना है। यह उस कवि की रचना है, जिसने 'सरस्वती' और 'मर्यादा' की फाइलों से हिन्दी

सीखी, उन पत्रिकाओं के एक-एक वाक्य को संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी व्याकरण के सहारे समझने का प्रयास किया। इस समय वे महिषादल में ही थे। 'रवीन्द्र कविता कानन' के लिखने का समय यही है। सन् 1916 में इनका 'हिन्दी-बंग्ला का तुलनात्मक व्याकरण' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है, मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला**	**1**
	जीवन परिचय	1
	जीवन परिचय	2
	परिवार	2
	शिक्षा	2
	विवाह	3
	पारिवारिक विपत्तियाँ	3
	कार्यक्षेत्र	3
	रचनाएँ	4
	लोकप्रिय रचना	7
	काव्य प्रतिभा को प्रकाश	7
	आर्थिक संकट का काल	8
	मुक्त वृत्त	8
	गीत	10
	प्रौढ़काल	10
	प्रथम प्रेरणा केन्द्र	11
	पूर्ण कविताएँ	11
	द्रष्टा कवि	12
	प्रकाशित कृतियाँ	13

निराला भाई– महादेवी वर्मा 15
समालोचना 25
वसंत का अग्रदूत (संस्मरण)–अज्ञेय 29
2. अनामिकाः सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला 43
3. गीतिकाः सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला 142
4. निराला की काव्यभाषा 152
तत्सम शब्दावली 154
देशज शब्द 154
5. निराला का भाषागत संघर्ष 158
6. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला कहानी 164
लिली– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 164
चतुरी चमार– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 172
हिरनी–सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 181

1

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हिन्दी कविता के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक माने जाते हैं। वे जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा के साथ हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं। उन्होंने कहानियाँ, उपन्यास और निबंध भी लिखे हैं किन्तु उनकी ख्याति विशेषरुप से कविता के कारण ही है।

जीवन परिचय

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म बंगाल की महिषादल रियासत (जिला मेदिनीपुर) में माघ शुक्ल 11, संवत् 1955, तदनुसार 21 फरवरी, सन् 1896 में हुआ था। वसंत पंचमी पर उनका जन्मदिन मनाने की परंपरा 1930 में प्रारंभ हुई। उनका जन्म मंगलवार को हुआ था। जन्म-कुण्डली बनाने वाले पंडित के कहने से उनका नाम सुर्जकुमार रखा गया। उनके पिता पंडित रामसहाय तिवारी उन्नाव (बैसवाड़ा) के रहने वाले थे और महिषादल में सिपाही की नौकरी करते थे। वे मूल रूप से उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के गढ़ाकोला नामक गाँव के निवासी थे।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (जन्म- माघ शुक्ल 11 सम्वत् 1953 अथवा 21 फरवरी, 1896 ई., मेदिनीपुर बंगाल, मृत्यु- 15 अक्टूबर, 1961, प्रयाग) हिन्दी के छायावादी कवियों में कई दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। निराला जी एक कवि, उपन्यासकार, निबन्धकार और कहानीकार थे। उन्होंने कई रेखाचित्र भी बनाये। उनका व्यक्तित्व अतिशय विद्रोही और क्रान्तिकारी तत्त्वों से निर्मित

हुआ है। उसके कारण वे एक ओर जहाँ अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों के स्रष्टा हुए, वहाँ दूसरी ओर परम्पराभाषी हिन्दी काव्य प्रेमियों द्वारा अरसे तक सबसे अधिक गलत भी समझे गये। उनके विविध प्रयोगों- छन्द, भाषा, शैली, भावसम्बन्धी नव्यतर दृष्टियों ने नवीन काव्य को दिशा देने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसलिए घिसी-पिटी परम्पराओं को छोड़कर नवीन शैली के विधायक कवि का पुरातनतापोषक पीढ़ी द्वारा स्वागत का न होना स्वाभाविक था। लेकिन प्रतिभा का प्रकाश उपेक्षा और अज्ञान के कुहासे से बहुत देर तक आच्छन्न नहीं रह सकता।

जीवन परिचय

11 जनवरी, 1921 ई. को पं. महावीर प्रसाद को लिखे अपने पत्र में निराला जी ने अपनी उम्र 22 वर्ष बताई है। रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी के लिए सन् 1926 ई. के अन्त में जन्म सम्बंधी विवरण माँगा तो निराला जी ने माघ शुक्ल 11 सम्वत 1953 (1896) अपनी जन्म तिथि लिखकर भेजी। यह विवरण निराला जी ने स्वयं लिखकर दिया था। बंगाल में बसने का परिणाम यह हुआ कि बांग्ला एक तरह से इनकी मातृभाषा हो गयी।

परिवार

'निराला' के पिता का नाम पं. रामसहाय था, जो बंगाल के महिषादल राज्य के मेदिनीपुर जिले में एक सरकारी नौकरी करते थे। निराला का बचपन बंगाल के इस क्षेत्र में बीता जिसका उनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव रहा है। तीन वर्ष की अवस्था में उनकी माँ की मृत्यु हो गयी और उनके पिता ने उनकी देखरेख का भार अपने ऊपर ले लिया।

शिक्षा

निराला की शिक्षा यहीं बंगाली माध्यम से शुरू हुई। हाईस्कूल पास करने के पश्चात् उन्होंने घर पर ही संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। हाईस्कूल करने के पश्चात् वे लखनऊ और उसके बाद गढकोला (उन्नाव) आ गये। प्रारम्भ से ही रामचरितमानस उन्हें बहुत प्रिय था। वे हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत भाषा में निपुण थे और श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर से विशेष रूप से प्रभावित थे। मैट्रीकुलेशन कक्षा में

पहुँचते-पहुँचते इनकी दार्शनिक रुचि का परिचय मिलने लगा। निराला स्वच्छन्द प्रकृति के थे और स्कूल में पढ़ने से अधिक उनकी रुचि घूमने, खेलने, तैरने और कुश्ती लड़ने इत्यादि में थी। संगीत में उनकी विशेष रुचि थी। अध्ययन में उनका विशेष मन नहीं लगता था। इस कारण उनके पिता कभी-कभी उनसे कठोर व्यवहार करते थे, जबकि उनके हृदय में अपने एकमात्र पुत्र के लिये विशेष स्नेह था।

विवाह

पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में निराला का विवाह मनोहरा देवी से हो गया। रायबरेली जिले में डलमऊ के पं. रामदयाल की पुत्री मनोहरा देवी सुन्दर और शिक्षित थीं, उनको संगीत का अभ्यास भी था। पत्नी के जोर देने पर ही उन्होंने हिन्दी सीखी। इसके बाद अतिशीघ्र ही उन्होंने बंगला के बजाय हिन्दी में कविता लिखना शुरू कर दिया। बचपन के नैराश्य और एकाकी जीवन के पश्चात् उन्होंने कुछ वर्ष अपनी पत्नी के साथ सुख से बिताये, किन्तु यह सुख ज्यादा दिनों तक नहीं टिका और उनकी पत्नी की मृत्यु उनकी 20 वर्ष की अवस्था में ही हो गयी। बाद में उनकी पुत्री जो कि विधवा थी, की भी मृत्यु हो गयी। वे आर्थिक विषमताओं से भी घिरे रहे। ऐसे समय में उन्होंने विभिन्न प्रकाशकों के साथ प्रूफ रीडर के रूप में काम किया, उन्होंने 'समन्वय' का भी सम्पादन किया।

पारिवारिक विपत्तियाँ

16-17 वर्ष की उम्र से ही इनके जीवन में विपत्तियाँ आरम्भ हो गयीं, पर अनेक प्रकार के दैवी, सामाजिक और साहित्यिक संघर्षों को झेलते हुए भी इन्होंने कभी अपने लक्ष्य को नीचा नहीं किया। इनकी माँ पहले ही गत हो चुकी थीं, पिता का भी असामायिक निधन हो गया। इनफ्लुएँजा के विकराल प्रकोप में घर के अन्य प्राणी भी चल बसे। पत्नी की मृत्यु से तो ये टूट से गये। पर कुटुम्ब के पालन-पोषण का भार स्वयं झेलते हुए वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। इन विपत्तियों से त्राण पाने में इनके दार्शनिक ने अच्छी सहायता पहुँचायी।

कार्यक्षेत्र

निराला जी ने 1918 से 1922 तक महिषादल राज्य की सेवा की। उसके बाद संपादन स्वतंत्र लेखन और अनुवाद कार्य किया। इन्होंने 1922 से 23 के

दौरान कोलकाता से प्रकाशित 'समन्वय' का संपादन किया। 1923 के अगस्त से 'मतवाला' के संपादक मंडल में काम किया। इनके इसके बाद लखनऊ में गंगा पुस्तक माला कार्यालय और वहाँ से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 के मध्य तक संबद्ध रहे। इन्होंने 1942 से मृत्यु पर्यन्त इलाहाबाद में रह कर स्वतंत्र लेखन और अनुवाद कार्य भी किया। वे जयशंकर प्रसाद और महादेवी वर्मा के साथ हिन्दी साहित्य में छायावाद के प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं। उन्होंने कहानियाँ उपन्यास और निबंध भी लिखे हैं किन्तु उनकी ख्याति विशेष रूप से कविता के कारण ही है।

रचनाएँ

निराला की रचनाओं में अनेक प्रकार के भाव पाए जाते हैं। यद्यपि वे खड़ी बोली के कवि थे, पर ब्रजभाषा व अवधी भाषा में भी कविताएँ गढ़ लेते थे। उनकी रचनाओं में कहीं प्रेम की सघनता है, कहीं आध्यात्मिकता तो कहीं विपन्नों के प्रति सहानुभूति व सम्वेदना, कहीं देश-प्रेम का जज्बा तो कहीं सामाजिक रूढ़ियों का विरोध व कहीं प्रकृति के प्रति झलकता अनुराग। इलाहाबाद में पत्थर तोड़ती महिला पर लिखी उनकी कविता आज भी सामाजिक यथार्थ का एक आईना है। उनका जोर वक्तव्य पर नहीं वरन् चित्रण पर था, सड़क के किनारे पत्थर तोड़ती महिला का रेखांकन उनकी काव्य चेतना की सर्वोच्चता को दर्शाता है –

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर
कोई न छायादार पेड़
वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन, भर बंधा यौवन
नत नयन प्रिय, कर्म-रत मन
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार-बार प्रहार
सामने त–मालिका अट्टालिका प्राकार

इसी प्रकार राह चलते भिखारी पर उन्होंने लिखा–

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक

चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को,
भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछताता।

राम की शक्ति पूजा के माध्यम से निराला ने राम को समाज में एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। वे लिखते हैं -

होगी जय, होगी जय
हे पुरुषोत्तम नवीन
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।

सौ पदों में लिखी गयी तुलसीदास निराला की सबसे बड़ी कविता है, जो कि 1934 में लिखी गयी और 1935 में सुधा के पाँच अंकों में किस्तवार प्रकाशित हुयी। इस प्रबन्ध काव्य में निराला ने पत्नी के युवा तन-मन के आकर्षण में मोहग्रस्त तुलसीदास के महाकवि बनने को बखूबी दिखाया है –

जागा जागा संस्कार प्रबल
रे गया काम तत्क्षण वह जल
देखा वामा, वह न थी, अनल प्रमिता वह
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान
हो गया भस्म वह प्रथम भान
छूटा जग का जो रहा ध्यान।

निराला की रचनाधर्मिता में एकरसता का पुट नहीं है। वे कभी भी बँधकर नहीं लिख पाते थे और न ही यह उनकी फक्कड़ प्रकृति के अनुकूल था। निराला की जूही की कली कविता आज भी लोगों के जेहन में बसी है। इस कविता में निराला ने अपनी अभिव्यक्ति को छंदों की सीमा से परे छन्दविहीन कविता की ओर प्रवाहित किया है–

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तन तरुणी जूही की कली
दृग बंद किये, शिथिल पत्रांक में
वासन्ती निशा थी

यही नहीं, निराला एक जगह स्थिर होकर कविता-पाठ भी नहीं करते थे। एक बार एक समारोह में आकाशवाणी को उनकी कविता का सीधा प्रसारण करना था, तो उनके चारों ओर माइक लगाए गए कि पता नहीं वे घूम-घूम कर किस कोने से कविता पढ़ें। निराला ने अपने समय के मशहूर रजनीसेन, चण्डीदास, गोविन्द दास, विवेकानन्द और रवीन्द्र नाथ टैगोर इत्यादि की बांग्ला कविताओं का अनुवाद भी किया, यद्यपि उन पर टैगोर की कविताओं के अनुवाद को अपना मौलिक कहकर प्रकाशित कराने के आरोप भी लगे। राजधानी दिल्ली को भी निराला ने अभिव्यक्ति दी-

यमुना की ध्वनि में
है गूँजती सुहाग-गाथा
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहाँ
आज वह फिरदौस, सुनसान है पड़ा
शाही दीवान आम स्तब्ध है हो रहा है
दुपहर को, पार्श्व में
उठता है झिल्ली रव
बोलते हैं स्यार रात यमुना-कछार में
लीन हो गया है रव
शाही अँगनाओं का
निस्तब्ध मीनार, मौन हैं मकबरे।

निराला की मौलिकता, प्रबल भावोद्वेग, लोकमानस के हृदय पटल पर छा जाने वाली जीवन्त व प्रभावी शैली, अद्‌भुत वाक्य विन्यास और उनमें अन्तनिहित गूढ़ अर्थ उन्हें भीड़ से अलग खड़ा करते हैं। बसंत पंचमी और निराला का सम्बन्ध बड़ा अद्‌भुत रहा और इस दिन हर साहित्यकार उनके सान्निध्य की अपेक्षा रखता था। ऐसे ही किन्हीं क्षणों में निराला की काव्य रचना में यौवन का भावावेग दिखा-

रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है
गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।

यौवन के चरम में प्रेम के वियोगी स्वरूप को भी उन्होंने उकेरा-

छोटे से घर की लघु सीमा में
बंधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिय
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निरूसीम भूमि पर।

निराला के काव्य में आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, रहस्यवाद और जीवन के गूढ़ पक्षों की झलक मिलती है पर लोकमान्यता के आधार पर निराला ने विषयवस्तु में नये प्रतिमान स्थापित किये और समसामयिकता के पुट को भी खूब उभारा। अपनी पुत्री सरोज के असामायिक निधन और साहित्यकारों के एक गुट द्वारा अनवरत अनर्गल आलोचना किये जाने से निराला अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में मनोविक्षिप्त से हो गये थे। पुत्री के निधन पर शोक-सन्तप्त निराला सरोज-स्मृति में लिखते हैं-

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल
दु:ख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही।

लोकप्रिय रचना

सन् 1916 ई. में 'निराला' की अत्यधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय रचना 'जुही की कली' लिखी गयी। यह उनकी प्राप्त रचनाओं में पहली रचना है। यह उस कवि की रचना है, जिसने 'सरस्वती' और 'मर्यादा' की फाइलों से हिन्दी सीखी, उन पत्रिकाओं के एक-एक वाक्य को संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी व्याकरण के सहारे समझने का प्रयास किया। इस समय वे महिषादल में ही थे। 'रवीन्द्र कविता कानन' के लिखने का समय यही है। सन् 1916 में इनका 'हिन्दी-बंग्ला का तुलनात्मक व्याकरण' 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ।

काव्य प्रतिभा को प्रकाश

एक सामान्य विवाद पर महिषादल की नौकरी छोड़कर वे घर वापस चले आये। कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले रामकृष्ण मिशन के पत्र 'समन्वय' में वे सन् 1922 में चले गये। 'समन्वय' के सम्पादन काल में उनके दार्शनिक विचारों के पुष्ट होने का बहुत ही अच्छा अवसर मिला। इस काल में जो दार्शनिक चेतना

उनको प्राप्त हुई, उससे उनकी काव्यशक्ति और भी समृद्ध हुई। सन् 1923-24 ई. में महादेव बाबू ने उन्हें 'मतवाला' के सम्पादन मण्डल में बुला लिया। फिर तो काव्य प्रतिभा को प्रकाश में ले आने का सर्वाधिक श्रेय 'मतवाला' को ही है। 'मतवाला' में भी ये 2-3 वर्षों तक ही रह पाये। इस काल की लिखी गयी अधिकांश कविताएँ 'परिमल' में संग्रहीत हैं।

आर्थिक संकट का काल

सन् 1927-30 ई. तक वे बराबर अस्वस्थ रहे। फिर स्वेच्छा से गंगा पुस्तक माला का सम्पादन तथा 'सुधा' में सम्पादकीय का लेखन करने लगे। सन् 1930 से 42 तक उनका अधिकांश समय लखनऊ में ही बीता। यह समय उनके घोर आर्थिक संकट का काल था। इस समय जीवकोपार्जन के लिए उन्हें जनता के लिए लिखना पड़ता था। सामान्य जनरुचि कथा साहित्य के अधिक अनुकूल होती है। उनके कहानी संग्रह 'लिली', 'चतुरी चमार', 'सुकुल की बीबी', (1941 ई.) और सखी की कहानियाँ तथा 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', (1946 ई.) 'निरुपमा' इत्यादि उपन्यास उनके अर्थ संकट के फलस्वरूप प्रणीत हुए। वे समय-समय पर फुटबॉल लेख भी लिखते रहे। इन लेखों का संग्रह 'प्रबन्ध पद्म' के नाम से इसी समय में प्रकाशित हुआ। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे जनरुचि के कारण अपने धरातल से उतर कर सामान्य भूमि पर आ गये। उनके काव्यगत प्रयोग चलते रहे। सन् 1936 ई. में स्वरताल युक्त उनके गीतों का संग्रह 'गीतिका' नाम से प्रकाशित हुआ। दो वर्ष के बाद अर्थात् सन् 1938 ई. में उनका 'अनामिका' काव्य संग्रह प्रकाश में आया। यह संग्रह सन् 1922 ई. में प्रकाशित 'अनामिका' संग्रह से बिल्कुल भिन्न है। सन् 1938 ई. ही उनके अंतर्मुखी प्रबन्ध काव्य 'तुलसीदास' का भी प्रकाशन हुआ।

मुक्त वृत्त

हिन्दी काव्य क्षेत्र में 'निराला' का पदार्पण मुक्त वृत्त के साथ होता है। वे इस वृत्त के प्रथम पुरस्कर्ता हैं। वास्तव में 'निराला' की उद्दाम भाव धारा को छन्द के बन्धन बाँध नहीं सकते थे। गिनी-गिनाई मात्राओं और अन्त्यानुप्रासों के बँधे घाटों के बीच उनका भावोल्लास नहीं बँट सकता था। ऐसी स्थिति में काव्याभिव्यक्ति के लिए मुक्त वृत्त की अनिवार्यता स्वतः ही सिद्ध है। उन्होंने 'परिमल' की भूमिका में लिखा है-

'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति कर्म के बन्धन में छुटकारा पाना है और कविता मुक्त छन्दों के शासन से अलग हो जाना है। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह दूसरों के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं फिर भी स्वतंत्र। इसी तरह कविता का भी हाल है। ६

'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने लिखा है–

'भावों की मुक्ति छन्दों की मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छन्द तीनों स्वछन्द हैं।'

रीतिकाल की कृत्रिम छन्दोबद्ध रचना के विरुद्ध यह नवीन उन्मेषशील काव्य की पहली विद्रोह वाणी है। भाव–व्यंजना की दृष्टि से मुक्तछन्द कोमल और परुष दोनों प्रकार की भावाभिव्यक्ति के लिए समान रूप से समर्थ हैं, यद्यपि 'निराला' का कहना है कि, 'यह कविता स्त्री की सुकुमारता नहीं, कवित्त्व का पुरुष गर्व है', किन्तु 'जूही की कली' जैसी उत्कृष्ट कोटि की शृंगारिक रचना इसी वृत्त में लिखी गयी है।

'निराला' द्वारा प्रस्तुत मुक्त छन्द का आधार कवित्त छन्द है। इसमें कवि को भावानुकूल चरणों के प्रसार की खुली छूट है। भाव की पूर्णता के साथ वृत्त भी समाप्त हो जाता है। आज तो मुक्त वृत्त काव्य–रचना का मुख्य छन्द हो गया है, पर अपनी विशिष्ट नादयोजना के कारण 'निराला' ने उसमें प्रभावपूर्ण संगीतात्मकता ला दी है। 'शेफलिका का पत्र' आदि रचनाएँ इसी छन्द में लिखी गयी हैं। 'पंचवटी प्रसंग'–गीति नाट्य के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कोई छन्द नहीं हो सकता था। ये समस्त रचनाएँ 'परिमल' के तृतीय खण्ड में संग्रहीत हैं।

'परिमल' के द्वितीय खण्ड की रचनाएँ स्वच्छन्द छन्द में लिखी गयी हैं, जिसे 'निराला' मुक्तिगीत कहते हैं। इन गीतों में तुक का आग्रह तो है पर मात्राओं का नहीं। पन्त के 'आँसू', 'उच्छ्वास' और 'परिवर्तन' भी इसी छन्द में लिखे गये हैं। 'परिमल' के प्रथम खण्ड में सममात्रिक तुकान्त कविताएँ हैं। मुक्त वृत्तात्मक कविताएँ आख्यान प्रधान हैं तो मुक्तगीत चित्रण प्रधान और मात्रिक छन्द में लिखी गयी कविताओं में भाव और कल्पना की प्रधानता देखी जा सकती है। उनकी बहु–वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा का परिचय आरम्भ से ही मिलने लगता है–विशेष रूप से सड़ी–गली मान्यताओं के प्रति तीव्र विद्रोह तथा निम्नवर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति उनमें प्रारम्भ से ही दिखाई देती है।

छायावादी कवियों ने मुख्यत: प्रगीतों की रचना की है। ये प्रगीत गाये तो होते हैं पर ये शास्त्रानुमोदित ढंग पर नहीं गाये जा सकते हैं। नाद-योजना की ओर अधिक झुकाव होने के कारण 'निराला' ने नये स्वर-ताल से युक्त गीतों की सृष्टि की। अंग्रेजी स्वर-मैत्री का प्रभाव बंगला के गीतों पर पड़ चुका था, उसके रंग-ढंग पर बंगला गीतों की स्वर लिपियाँ भी तैयार की गयीं। हिन्दी के कवियों में 'निराला' इस दिशा में भी अग्रसर हुए। उन्हें हिन्दी संगीत की शब्दावली और गाने के ढंग दोनों खटकते थे। इसके फलस्वरूप 'गीतिका' की रचना हुई।

गीत

निराला के गीत गायकों के गीतों की भाँति राग-रागनियों की रूढ़ियों से बँधे हुए नहीं हैं। उच्चारण का नया आधार लिये हुए सभी गीत एक अलग भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। इनके स्वर, ताल और लय अंग्रेजी गीतों से प्रभावित हैं। पियानों पर गाये जाने वाले धार्मिक गीतों की झलक इन गीतों में मिलती है। इसलिए इन गीतों की गायन-पद्धति और भावविन्यास में पवित्रता का स्पष्ट संकेत मिलता है। यद्यपि 'गीतिका' की मूल भावना शृंगारिक है, फिर भी बहुत से गीतों में माधुर्य भाव से आत्मनिवेदन किया गया है। जगह-जगह मनोरम प्रकृति-वर्णन तथा उत्कृष्ट देश-प्रेम का चित्रण भी मिलता है। इस संग्रह की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें संगीतात्मकता के नाम पर काव्य पक्ष को कहीं पर भी विकृत नहीं होने दिया गया है।

प्रौढ़काल

1935 ई. से 1938 ई. तक 'निराला' की काव्य रचना को प्रौढ़काल कहा जा सकता है। इस बीच लिखी हुई कविताएँ 'अनामिका' में संग्रहीत हैं। 'अनामिका' का प्रकाशन 1938 ई. में हुआ। 'अनामिका' में संग्रहीत अधिकांश रचनाएँ 'निराला' की उत्कृष्ट भाव-व्यंजना तथा कलात्मक प्रौढ़ता की द्योतक हैं। 'प्रेयसी', 'रेखा', 'सरोजस्मृति', 'राम की शक्तिपूजा' आदि उनकी श्रेष्ठतम रचनाएँ हैं। 'सरोजस्मृति' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक-गीत है तो 'राम की शक्तिपूजा' आदि उनकी श्रेष्ठतम रचनाएँ हैं। 'सरोजस्मृति' में करुणा की पृष्ठभूमि पर शृंगार, हास्य, व्यंग्य इत्यादि अनेक भावों का काव्यात्मक संगुम्फन किया गया है। नाटकीय गुणों से ओत-प्रोत होने के कारण वह और भी प्रभावपूर्ण हो उठी है। काव्य में कर्ता के जिस निर्लेप व्यक्तित्व का महत्त्व टी.एस. इलियट

ने स्थापित किया है, वह इस कविता में चरम ऊँचाई पर पहुँचा हुआ है। 'राम की शक्तिपूजा' में कवि का पौरुष और ओज चरमोत्कर्ष के साथ अभिव्यक्त हुआ है। महाकाव्य में भावगत औदात्य के अनुकूल कलागत औदात्य आवश्यक है। इस कविता में दोनों प्रकार की उदात्तताओं का नीर-क्षीर सम्मिश्रण हुआ है।

प्रथम प्रेरणा केन्द्र

'तुलसीदास' में कथा की अपेक्षा चिन्तन का विस्तार अधिक है। इस प्रबन्ध में तुलसी के मानस पक्ष का उद्‌घाटन करते हुए तत्कालीन परिवेश का पूरा सहारा लिया गया है। चित्रकूट कानन की छवि की चिन्ताधारा का प्रथम प्रेरणा केन्द्र है। प्रकृति का जो चित्र कवि के सम्मुख प्रस्तुत हुआ है, उसको दो पक्ष हैं-प्रकृति का स्वयं का पक्ष और तत्कालीन समाज का निरूपण। कवि ने इन दोनों पक्षों का निर्वाह बहुत कुशलतापूर्वक किया है। भारत के सांस्कृतिक ह्रास के पुनरुद्धार की प्रेरणा तुलसी को प्रकृति के माध्यम से ही मिलती है। इसे देखकर उनकी अन्तर्वृत्तियाँ मन्थित हो उठी हैं। इन्हीं अन्तर्वृत्तियों का निरूपण पुस्तक की मूल चिन्ताधारा है। इस प्रबन्ध में भी उनके शिल्पी का रूप सहज ही भासित हो जाता है। छन्दों की बंदिश, रूपकों की विशद योजना, नवीन शब्द-विन्यास आदि उनके अपने हैं। पर इस ग्रन्थ में ऐसे शब्दों का व्यवहार भी हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से इसे दुरूह बना देते हैं। फिर भी जो लोग काव्य में बुद्धि-तत्त्व की अहमियत स्वीकार करेंगे, वे इसे निर्विवाद रूप से एक श्रेष्ठ रचना मानेंगे।

पूर्ण कविताएँ

प्रौढ़ कृतियों की सर्जना के साथ ही 'निराला' व्यंग्यविनोद पूर्ण कविताएँ भी लिखते रहे हैं। जिनमें से कुछ 'अनामिका' में संग्रहीत हैं। पर इसके बाद बाह्य परिस्थितियों के कारण, जिनमें उनके प्रति परम्परावादियों का उग्र विरोध भी सम्मिलित है, उनमें विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। 'निराला' और पन्त मूलतः अनुभूतिवादी कवि हैं। ऐसे व्यक्तियों को व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत प्रभावित करती हैं। इसके फलस्वरूप उनकी कविताओं में व्यंग्योक्तियों के साथ-साथ निषेधात्मक जीवन की गहरी अभिव्यक्ति होने लगी। 'कुकुरमुत्ता' तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रगतिवाद के विरोध में तर्क उपस्थित करने लगता है। उपालम्भ और व्यंग्य के समाप्त होते-होते कवि में विषादात्मक शान्ति

आ जाती है। अब उनके कथन में दुनिया के लिए सन्देश भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन है और साहित्यिक-राजनीतिक महापुरुषों के प्रशस्ति अंकन का प्रयास। 'अणिमा' जीवन के इन्हीं पक्षों की द्योतक है, पर इसकी कुछ अनुभूतियों की तीव्रता मन को भीतर से कुरेद देती है। 'बेला' और 'नये पत्ते' में कवि की मुख्य दृष्टि उर्दू और फारसी के बन्दों (छन्दों) को हिन्दी में डालने की ओर रही है। इसके बाद के उनके दो गीत-संग्रहों-'अर्चना' और 'गीतगुंज' में कहीं पर गहरी आत्मानुभूति की झलक है तो कहीं व्यंग्योक्ति की। उनके व्यंग्य की बानगी देखने के लिए उनकी दो गद्य की रचनाओं 'कुल्लीभाँट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को भुलाया नहीं जा सकता।

द्रष्टा कवि

सब मिलाकर 'निराला' भारतीय संस्कृति के द्रष्टा कवि हैं-वे गलित रूढ़ियों के विरोधी तथा संस्कृति के युगानुरूप पक्षों के उद्घाटक और पोषक रहे हैं पर काव्य तथा जीवन में निरन्तर रूढ़ियों का मूलोच्छेद करते हुए इन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। मध्यम श्रेणी में उत्पन्न होकर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मोर्चा लेता हुआ आदर्श के लिए सब कुछ उत्सर्ग करने वाला महापुरुष जिस मानसिक स्थिति को पहुँचा, उसे बहुत से लोग व्यक्तित्व की अपूर्णता कहते हैं। पर जहाँ व्यक्ति के आदर्शों और सामाजिक हीनताओं में निरन्तर संघर्ष हो, वहाँ व्यक्ति का ऐसी स्थिति में पड़ना स्वाभाविक ही है। हिन्दी की ओर से 'निराला' को यह बलि देनी पड़ी। जागृत और उन्नतिशील साहित्य में ही ऐसी बलियाँ सम्भव हुआ करती हैं-प्रतिगामी और उद्देश्यहीन साहित्य में नहीं।

निधन

15 अक्टूबर, 1961 को अपनी यादें छोड़कर निराला इस लोक को अलविदा कह गये पर मिथक और यथार्थ के बीच अन्तर्विरोधों के बावजूद अपनी रचनात्मकता को यथार्थ की भावभूमि पर टिकाये रखने वाले निराला आज भी हमारे बीच जीवन्त हैं। इनकी मृत्यु प्रयाग में हुई थी। मुक्ति की उत्कट आकांक्षा उनको सदैव बेचैन करती रही, तभी तो उन्होंने लिखा–

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा

पत्थर की, निकलो फिर गंगा-जलधारा
गृह-गृह की पार्वती
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा।

अपने समकालीन अन्य कवियों से अलग उन्होंने कविता में कल्पना का सहारा बहुत कम लिया है और यथार्थ को प्रमुखता से चित्रित किया है। वे हिन्दी में मुक्तछंद के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। 1930 में प्रकाशित अपने काव्य संग्रह परिमल की भूमिका में वे लिखते हैं-

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्म के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह दूसरों के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं फिर भी स्वतंत्र। इसी तरह कविता का भी हाल है।

लेखनकार्य

निराला ने 1920 ई. के आसपास से लेखन कार्य आरंभ किया। उनकी पहली रचना 'जन्मभूमि' पर लिखा गया एक गीत था। लंबे समय तक निराला की प्रथम रचना के रूप में प्रसिद्ध 'जूही की कली' शीर्षक कविता, जिसका रचनाकाल निराला ने स्वयं 1916 ई. बतलाया था, वस्तुतः 1921 ई. के आसपास लिखी गयी थी तथा 1922 ई. में पहली बार प्रकाशित हुई थी। कविता के अतिरिक्त कथासाहित्य तथा गद्य की अन्य विधाओं में भी निराला ने प्रभूत मात्रा में लिखा है।

प्रकाशित कृतियाँ

काव्यसंग्रह

अनामिका (1923), परिमल (1930), गीतिका (1936), अनामिका (द्वितीय), तुलसीदास (1939), कुकुरमुत्ता (1942), अणिमा (1943), बेला

(1946), नये पत्ते (1946), अर्चना(1950), आराधना (1953), गीत कुंज (1954), सांध्य काकली, अपरा (संचयन)

उपन्यास

अप्सरा (1931), अलका (1933), प्रभावती (1936), निरुपमा (1936), कुल्ली भाट (1938-39), बिल्लेसुर बकरिहा (1942), चोटी की पकड़ (1946), काले कारनामे (1950) (अपूर्ण), चमेली (अपूर्ण), इन्दुलेखा (अपूर्ण)

कहानी संग्रह

लिली (1934), सखी (1935), सुकुल की बीवी (1941), चतुरी चमार (1945) 'सखी' संग्रह का ही नये नाम से पुनर्प्रकाशन, देवी (1948) पूर्व प्रकाशित संग्रहों से संचयन, एकमात्र नयी कहानी 'जान की !'

निबन्ध-आलोचना

रवीन्द्र कविता कानन (1929), प्रबंध पद्म (1934), प्रबंध प्रतिमा (1940), चाबुक (1942), चयन (1957), संग्रह (1963),

पुराण कथा

महाभारत (1939), रामायण की अन्तर्कथाएँ (1956)

बालोपयोगी साहित्य

भक्त ध्रुव (1926), भक्त प्रहलाद (1926), भीष्म (1926), महाराणा प्रताप (1927), सीखभरी कहानियाँ-ईसप की नीतिकथाएँ (1969)

अनुवाद

रामचरितमानस (विनय-भाग)-1948 (खड़ीबोली हिन्दी में पद्यानुवाद), आनंद मठ (बांग्ला से गद्यानुवाद), विष वृक्ष, कृष्णकांत का वसीयतनामा, कपालकुंडला, दुर्गेश नन्दिनी, राज सिंह, राजरानी, देवी चौधरानी, युगलांगुलीय, चन्द्रशेखर, रजनी, श्रीरामकृष्णवचनामृत (तीन खण्डों में), परिव्राजक, भारत में विवेकानंद, राजयोग (अंशानुवाद)।

रचनावली

निराला रचनावली नाम से 8 खण्डों में पूर्व प्रकाशित एवं अप्रकाशित सम्पूर्ण रचनाओं का सुनियोजित प्रकाशन (प्रथम संस्करण-1983)

निराला भाई– महादेवी वर्मा

एक युग बीत जाने पर भी मेरी स्मृति से एक घटाभरी अश्रुमुखी सावनी पूर्णिमा की रेखाएँ नहीं मिट सकी है। उन रेखाओं के उजले रंग न जाने किस व्यथा से गीले हैं कि अब तक सूख भी नहीं पाए - उड़ना तो दूर की बात है।

उस दिन मैं बिना कुछ सोचे हुए ही भाई निराला जी से पूछ बैठी थी, 'आप को किसी ने राखी नहीं बाँधी?' अवश्य ही उस समय मेरे सामने उनकी बंधन-शून्य कलाई और पीले, कच्चे सूत की ढेरों राखियाँ लेकर घूमने वाले यजमान-खोजियों का चित्र था। पर अपने प्रश्न के उत्तर में मिले प्रश्न ने मुझे क्षण भर के लिए चौंका दिया।

'कौन बहन हम जैसे भुक्खड़ को भाई बनावेगी?' में, उत्तर देने वाले के एकाकी जीवन की व्यथा थी या चुनौती यह कहना कठिन है। पर जान पड़ता है किसी अव्यक्त चुनौती के आभास ने ही मुझे उस हाथ के अभिषेक की प्रेरणा दी जिसने दिव्य वर्ण-गंध-मधु वाले गीत-सुमनों से भारती की अर्चना भी की है और बर्तन माँजने, पानी भरने जैसी कठिन श्रम-साधना से उत्पन्न स्वेद-बिंदुओं से मिट्टी का शृंगार भी किया है।

मेरा प्रयास किसी जीवंत बवंडर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम के तटों में सीमित करने के समान, यह सोचने विचारने का तब अवकाश नहीं था। पर आने वाले वर्ष निराला जी के संघर्ष के ही नहीं, मेरी परीक्षा के भी रहे हैं। मैं किस सीमा तक सफल हो सकी हूँ, यह मुझे ज्ञात नहीं, पर लौकिक दृष्टि से निरूस्व निराला हृदय की निधियों में सब से समृद्ध भाई हैं, यह स्वीकार करने में मुझे द्विविधा नहीं। उन्होंने अपने सहज विश्वास से मेरे कच्चे सूत के बंधन को जो दृढ़ता और दीप्ति दी है वह अन्यत्र दुर्लभ रहेगी।

दिन-रात के पगों से वर्षों की सीमा पार करने वाले अतीत ने आग के अक्षरों में आँसू के रंग भर-भर कर ऐसी अनेक चित्र-कथाएँ आँक डाली है, जिनसे इस महान कवि और असाधारण मानव के जीवन की मार्मिक झाँकी मिल सकती है। पर उन सब को सँभाल सके ऐसा एक चित्राधार पा लेना सहज नहीं।

उनके अस्त-व्यस्त जीवन को व्यवस्थित करने के असफल प्रयासों का स्मरण कर मुझे आज भी हँसी आ जाती है। एक बार अपनी निर्बंध उदारता की तीव्र आलोचना सुनने के बाद उन्होंने व्यवस्थित रहने का वचन दिया।

संयोग से तभी उन्हें कहीं से तीन सौ रुपए मिल गए। वही पूँजी मेरे पास जमा कर के उन्होंने मुझे अपने खर्च का 'बजट' बना देने का आदेश दिया।

जिन्हें मेरा व्यक्तिगत रखना पड़ता है, वे जानते हैं कि यह कार्य मेरे लिए कितना दुष्कर है। न वे मेरी चादर लंबी कर पाते हैं न मुझे पैर सिकोड़ने पर बाध्य कर सकते हैं और इस प्रकार एक विचित्र रस्साकशी में तीस दिन बीतते रहते हैं।

पर यदि अनुत्तीर्ण परीक्षार्थियों की प्रतियोगिता हो तो सौं में दस अंक पाने वाला भी अपने-आपको शून्य पाने वाले से श्रेष्ठ मानेगा।

अस्तु, नमक से लेकर नापित तक और चप्पल से लेकर मकान के किराए तक का जो अनुमान-पत्र मैंने बनाया वह जब निराला जी को पसंद आ गया, तब पहली बार मुझे अपने अर्थशास्त्र के ज्ञान पर गर्व हुआ। पर दूसरे ही दिन से मेरे गर्व की व्यर्थता सिद्ध होने लगी। वे सबेरे ही आ पहुँचे। पचास रुपए चाहिए - किसी विद्यार्थी का परीक्षा-शुल्क जमा करना है, अन्यथा वह परीक्षा में नहीं बैठ सकेगा। संध्या होते-होते किसी साहित्यिक मित्र को साठ देने की आवश्यकता पड़ गई। दूसरे दिन लखनऊ के किसी तांगे वाले की माँ को चालीस मनीआर्डर करना पड़ा। दोपहर को किसी दिवंगत मित्र की भतीजी के विवाह के लिए सौ देना अनिवार्य हो गया। सारांश यह कि तीसरे दिन उनका जमा किया हुआ रुपया समाप्त हो गया और तब उनके व्यवस्थापक के नाते यह दानखाता मेरे हिस्से आ पड़ा।

एक सप्ताह में मैंने समझ लिया कि यदि ऐसे अवढर दानी को न रोका जावे तो यह मुझे भी अपनी स्थिति में पहुँचा कर दम लेंगे। तब से फिर कभी उनका 'बजट' बनाने का दुस्साहस मैंने नहीं किया। पर उनकी अस्त-व्यस्तता में बाधा पहुँचाने का अपना स्वभाव मैं अब तक नहीं बदल सकी हूँ।

बड़े प्रयत्न से बनवाई रजाई, कोट जैसी नित्य व्यवहार की वस्तुएँ भी जब दूसरे ही दिन किसी अन्य का कष्ट दूर करने के लिए अंतर्धान हो गई, तब अर्थ के संबंध में क्या कहा जावे जो साधन मात्र है।

वह संध्या भी मेरी स्मृति में विशेष महत्व रखती है जब श्रद्धेय मैथिलीशरण जी निराला जी का आतिथ्य ग्रहण करने गए।

बगल में गुप्त जी के बिछौने का बंडल दबाए, दियासलाई के क्षण प्रकाश क्षण अंधकार में तंग सीढ़ियों का मार्ग दिखाते हुए निराला जी हमें उस कक्ष में ले गए जो उनकी कठोर साहित्य-साधना का मूक साक्षी रहा है।

आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए ही जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता तो वह निश्चय ही हमें, मिट्टी के तेल की दूकान पर लगी भीड़ में सब से पीछे खड़े पर सब से बालिश्त भर ऊँचे गृहस्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीज्ञा की कहानी सुना सकता। रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।

वह आलोकरहित, सुख-सुविधा-शून्य घर, गृहस्वामी के विशाल आकार और उससे भी विशालतर आत्मीयता से भरा हुआ था। अपने संबंध में बेसुध निराला जी अपने अतिथि की सुविधा के लिए सतर्क प्रहरी हैं। वैष्णव अतिथि की सुविधा का विचार कर वे नया घड़ा खरीद कर गंगाजल ले आए और धोती-चादर जो कुछ घर में मिल सका सब तख्त पर बिछा कर उन्हें प्रतिष्ठित किया।

तारों की छाया में उन दोनों मर्यादावादी और विद्रोही महाकवियों ने क्या कहा-सुना यह मुझे ज्ञात नहीं, पर सबेरे गुप्त जी को ट्रेन में बैठा कर वे मुझे उनके सुख-शयन का समाचार देना न भूले।

ऐसे अवसरों की कमी नहीं जब वे अकस्मात पहुँच कर कहने लगे, ''मेरे इक्के पर कुछ लकड़ियाँ, थोड़ा घी आदि रखवा दो - अतिथि आए हैं, घर में सामान नहीं है।''

'उनके अतिथि यहाँ भोजन करने आ जावें' सुन कर उनकी दृष्टि में बालकों जैसा विस्मय छलक आता है। जो अपना घर समझ कर आए हैं, उनसे यह कैसे कहा जावे कि उन्हें भोजन के लिए दूसरे घर जाना होगा।

भोजन बनाने से ले कर जूठे बर्तन माँजने तक का काम वे अपने अतिथि देवता के लिए सहर्ष करते हैं। तैतीस कोटि देवताओं के देश में इस वर्ग के देवताओं की संख्या कम नहीं, पर आधुनिक युग ने उनकी पूजा-विधि में बहुत कुछ सुधार कर लिया है। अब अतिथि-पूजा के पर्व कम ही आते हैं और यदि आ भी पड़े तो देवता के अभिषेक, शृंगार आदि संस्कार बेयरा आदि ही संपन्न

करा देते हैं। पुजारी गृहपति को तो भोग लगाने की मेज पर उपस्थित रहने भर का कर्तव्य सँभालना पड़ता है। कुछ देवता इस कर्तव्य से भी उसे मुक्ति दे देते हैं।

ऐसे युग में आतिथ्य की दृष्टि से निराला जी में वही पुरातन संस्कार है जो इस देश के ग्रामीण किसान में मिलता है।

उनके भाव की अतल गहराई और अबाध वेग भी आधुनिक सभ्यता के छिछले और बँधे भाव-व्यापार से भिन्न है।

उनकी व्यथा की सघनता जानने का मुझे एक अवसर मिला है। श्री सुमित्रानंदन जी दिल्ली में टाइफाइड ज्वर से पीड़ित थे। इसी बीच घटित को साधारण और अघटित को समाचार मानने वाले किसी समाचार-पत्र ने उनके स्वर्गवास की झूठी खबर छाप डाली।

निराला जी कुछ ऐसी आकस्मिकता के साथ आ पहुँचे थे कि मैं उनसे यह समाचार छिपाने का भी अवकाश न पा सकी। समाचार के सत्य में मुझे विश्वास नहीं था, पर निराला जी तो ऐसे अवसर पर तर्क की शक्ति ही खो बैठते हैं। वे लड़खड़ा कर सोफे पर बैठ गए और किसी अव्यक्त वेदना की तरंग के स्पर्श से मानो पाषाण में परिवर्तित होने लगे। उनकी झुकी पलकों से घुटनों पर चूने वाली आँसू की बूँदें बीच-बीच में ऐसे चमक जाती थीं मानो प्रतिमा से झड़े हुए जूही के फूल हों।

स्वयं अस्थिर होने पर भी मुझे निराला जी को सांत्वना देने के लिए स्थिर होना पड़ा। यह सुन कर कि मैंने ठीक समाचार जानने के लिए तार दिया है, वे व्यथित प्रतीक्षा की मुद्र में तब तक बैठे रहे जब तक रात में मेरा फाटक बंद होने का समय न आ गया।

सबेरे चार बजे ही फाटक खटखटा कर जब उन्होंने तार के उत्तर के संबंध में पूछा तब मुझे ज्ञात हुआ कि वे रात भर पार्क में खुले आकाश के नीचे ओस से भीगी दूब पर बैठे सबेरे की प्रतीक्षा करते रहे हैं। उनकी निस्तब्ध पीड़ा जब कुछ मुखर हो सकी, तब वे इतना ही कह सके, 'अब हम भी गिरते हैं। पंत के साथ तो रास्ता कम अखरता था, पर अब सोच कर ही थकावट होती है।'

प्राय: एक स्पर्धा का तार हमारे सौहार्द के फूलों को वेध कर उन्हें एकत्र रखता है। फूल के झड़ते या खिसकते ही काला तार मात्र रह जाता है। इसी से हमें किसी सहयोगी का बिछोह अकेलेपन की तीव्र अनुभूति नहीं देता। निराला जी के सौहार्द और विरोध दोनों एक आत्मीयता के वृंत पर खिले दो फूल हैं।

वे खिल कर वृंत का शृंगार करते हैं और झड़ कर उसे अकेला और सूना कर देते हैं। मित्र का तो प्रश्न ही क्या ऐसा कोई विरोधी भी नहीं जिसका अभाव उन्हें विकल न कर देगा।

गत मई मास की, लपटों में साँस लेने वाली दोपहरी भी मेरी स्मृति पर एक जलती रेखा खींच गई है। शरीर से शिथिल और मन से क्लांत निराला जी मलिन फटे अधोवस्त्र को लपेटे और वैसा ही जीर्ण-शीर्ण उत्तरीय ओढ़े हुए धूल-धूसरित पैरों के साथ मेरे द्वार पर आ उपस्थित हुए। 'अपरा' पर इक्कीस सौ पुरस्कार की सूचना मिलने पर उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं अपनी सांस्थिक मर्यादा से वह रुपया मँगवा लूँ। अब वे कहने आए थे कि स्वर्गीय मुंशी नव-जादिक लाल की विधवा को पचास प्रति मास के हिसाब से भेजने का प्रबंध कर दिया जाए।

'उक्त धन का कुछ अंश भी क्या वे अपने उपयोग में नहीं ला सकते?' के उत्तर में उन्होंने उसी सरल विश्वास के साथ कहा, 'वह तो संकल्पित अर्थ है। अपने लिए उसका उपयोग करना अनुचित होगा।'

उन्हें व्यवस्थित करने के सभी प्रयास निष्फल रहे हैं, पर आज मुझे उसका खेद नहीं है। यदि वे हमारे साँचे में समा जावें तो उनकी विशेषता ही क्या रहे!

इन बिखरे पृष्ठों में एक पर अनायास ही दृष्टि रुक जाती है। उसे मानो स्मृति ने विषाद की आर्द्रता ने हँसी का कुमकुम घोल कर अंकित किया है।

साहित्यकार-संसद में सब सुविधायें सुलभ होने पर भी उन्होंने स्वयं-पाकी बन कर और एक बार भोजन करके जो अनुष्ठान आरंभ किया था उसकी तो मैं अभ्यस्त हो चुकी हूँ। पर अचानक एक दिन जब उन्होंने पाव भर गेरु मँगवाने का आदेश दिया तब मैंने समझा कि उनके पित्ती निकल आई हैं, क्यों कि उसी रोग में गेरु मिले हुए आटे के पुये खाए जाते हैं और गेरु के चूर्ण का अंगराग लगाया जाता है।

प्रश्नों के प्रति निराला जी कम सहिष्णु हैं और कुतूहल की दृष्टि से मैं कम जिज्ञासु हूँ। फिर भी उनकी सुविधा-असुविधा की चिंता के कारण मैं अनेक प्रश्न कर बैठती हूँ और मेरी सद्भावना में विश्वास के कारण वे उत्तरों का कष्ट सहन करते हैं।

मेरे मौन में मुखर चिंता के कारण ही उन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट किया, ''हम अब सन्यास लेंगे।'' मेरी उमड़ती हँसी को व्यथा के बाँध ने जहाँ का तहाँ ठहरा दिया। इस निर्मम युग ने इस महान कलाकार के पास ऐसा क्या छोड़ा है

जिसे स्वयं छोड़ कर यह त्याग का आत्मतोष भी प्राप्त कर सके। जिस प्रकार प्राप्ति हमारी कृतार्थता का फल है, उसी प्रकार त्याग हमारी पूर्णता का परिणाम है। इन दोनों छोरों में से एक मनुष्य के भौतिक विकास का माप है और दूसरा मानसिक विस्तार ही थाह। त्याग कभी भाव की अस्वीकृति है और कभी अभाव की स्वीकृति पर तत्वत: दोनों कितने भिन्न हैं।

मैं सोच ही रही थी कि चि. वसंत ने परिहास की मुद्रा में कहा, 'तब तो आपको मधुकरी खाने की आवश्यकता पड़ेगी।'

खेद, अनुताप या पश्चाताप की एक भी लहर से रहित विनोद की एक प्रशांत धारा पर तैरता हुआ निराला जी का उत्तर आया, 'मधुकरी तो अब भी खाते हैं।' जिसकी निधियों से साहित्य का कोष समृद्ध हैं, उसने मधुकरी माँग कर जीवन निर्वाह किया है, इस कटु सत्य पर आने वाले युग विश्वास कर सकेंगे यह कहना कठिन है।

गेरु में दोनों मलिन अधोवस्त्र और उत्तरीय कब रंग डाले गए इसका मुझे पता नहीं, पर एकादशी के सबेरे स्नान, हवन आदि कर के जब वे निकले तब गैरिक परिधान पहन चुके थे। अंगौछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह, हाथ आदि ही नहीं, विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था, मानो सुनहरी धूप में धुला गेरु के पर्वत का कोई शिखर हो।

बोले, 'अब ठीक है। जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गए। दो रोटियाँ माँग कर खा लीं और गीत लिखने लगे।'

इस सर्वथा नवीन परिच्छेद का उपसंहार कहाँ और कैसे होगा यह सोचते-सोचते मैंने उत्तर दिया, 'आपके संन्यास से मुझे इतना ही लाभ हुआ कि साबुन के कुछ पैसे बचेंगे। गेरुये वस्त्र तो मैले नहीं दिखेंगे। पर हानि यही है कि न जाने कहाँ-कहाँ छप्पर डलवाने पड़ेंगे, क्यों कि धूप और वर्षा से पूर्णतया रक्षा करने वाले नीम-पीपल कम ही हैं।'

मन में एक प्रश्न बार-बार उठता है - क्या इस देश की सरस्वती अपने वैरागी पुत्रों की परंपरा अक्षुण्य रखना चाहती है और क्या इस पथ पर पहले पग रखने की शक्ति उसने निराला जी में ही पाई है?

निराला जी अपने शरीर, जीवन और साहित्य सभी में असाधारण हैं। उनमें विरोधी तत्वों की भी सामंजस्यपूर्ण संधि है। उनका विशाल डीलडौल देखने वाले के हृदय में जो आतंक उत्पन्न कर देता है, उसे उनके मुख की सरल आत्मीयता दूर करती चलती है।

उनकी दृष्टि में दर्प और विश्वास की धूपछाँही द्वाभा है। इस दर्प का संबंध किसी हल्की मनोवृत्ति से नहीं और न उसे अहं का सस्ता प्रदर्शन ही कहा जा सकता है। अविराम संघर्ष और निरंतर विरोध का सामना करने से उनमें जो एक आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई है, उसी का परिचय हम उनकी दृप्त दृष्टि में पाते हैं। कभी-कभी यह गर्व व्यक्ति की सीमा पार कर इतना सामान्य हो जाता है कि हम उसे अपना, प्रत्येक साहित्यकार का या साहित्य का मान सकते हैं, इसी से वह दुर्वह कभी नहीं होता। जिस बड़प्पन में हमारा भी कुछ भाग है वह हममें छोटेपन की अनुभूति नहीं उत्पन्न करता और परिणामतः उससे हमारा कभी विरोध नहीं होता।

निराला जी की दृष्टि में संदेह का वह पैनापन नहीं जो दूसरे मनुष्य के व्यक्त परिचय का अविश्वास कर उसके मर्म को वेधना चाहता है। उनका दृष्टिपात उनके सहज विश्वास की वर्णमाला है। वे व्यक्ति के उसी परिचय को सत्य मान कर चलते हैं जिसे वह देना चाहता है और अंत में उस स्थिति तक पहुँच जाते हैं जहाँ वह सत्य के अतिरिक्त कुछ और नहीं देना चाहता।

जो कलाकार हृदय के गूढ़तम भावों के विश्लेषण में समर्थ हैं, उसमें ऐसी सरलता लौकिक दृष्टि से चाहे विस्मय की वस्तु हो, पर कला-सृष्टि के लिए यह स्वाभाविक साधन है।

सत्य का मार्ग सरल है। तर्क और संदेह की चक्करदार राह से उस तक पहुँचा नहीं जा सकता। इसी से जीवन के सत्यद्रष्टाओं को हम बालकों जैसा सरल विश्वासी पाते हैं। निराला जी भी इसी परिवार के सदस्य हैं।

किसी अन्याय के प्रतिकार के लिए उनका हाथ लेखनी से पहले उठ सकता है अथवा लेखनी हाथ से अधिक कठोर प्रहार कर सकती है, पर उनकी आँखों की स्वच्छता किसी मलिन द्वेष में तरंगायित नहीं होती।

ओठों की खिंची हुई-सी रेखाओं में निश्चय की छाप है, पर उनमें क्रूरता की भंगिमा या घृणा की सिकुड़न नहीं मिल सकती।

क्रूरता और कायरता में वैसा ही संबंध है जैसा वृक्ष की जड़ों में अव्यक्त रस और उसके फल के व्यक्त स्वाद में। निराला किसी से सभीत नहीं, अतः किसी के प्रति क्रूर होना उनके लिए संभव नहीं। उनके तीखे व्यंग की विद्युत-रेखा के पीछे सद्भाव के जल से भरा बादल रहता है।

घृणा का भाव मनुष्य की असमर्थता का प्रमाण है, जिसे तोड़ कर हम इच्छानुसार गढ़ सकते हैं, उसके प्रति घृणा का अवकाश ही नहीं रहता, पर

जिससे अपनी रक्षा के लिए हम सतर्क हैं, उसी की स्थिति हमारी घृणा का केंद्र बन जाती है। जो मदिरा के पात्र को तोड़ कर फेंक सकता है, उसे मदिरा से घृणा की आवश्यकता ही क्या है! पर जो उसे सामने रखने के लिए भी विवश है और अपने मन में उससे बचने की शक्ति भी संचित करना चाहता है वह उसके दोषों की एक-एक ईंट जोड़ कर उस पर घृणा का काला रंग फेर कर एक दीवार खड़ी कर लेता है, जिसकी ओट में स्वयं बच सके। हमारे नरक की कल्पना के मूल में भी यही अपने बचाव का विवश प्रयत्न है। जहाँ संरक्षित दोष नहीं, वहाँ सुरक्षित घृणा भी संभव नहीं।

विकास-पथ की बाधाओं का ज्ञान ही महान विद्रोहियों को कर्म की प्रेरणा देता है। क्रोध को संचित कर द्वेष को स्थायी बना कर घृणा में बदलने के लंबे क्रम तक वे ठहर नहीं सकते और ठहरें भी तो घृणा की निष्क्रियता उन्हें निष्क्रिय बना कर पथ-भ्रष्ट कर देगी।

निराला जी विचार से क्रांतिदर्शी और आचरण से क्रांतिकारी है। वे उस झंझा के समान हैं जो हल्की वस्तुओं के साथ भारी वस्तुओं को भी उड़ा ले जाती है, उस मंद समीर जैसे नहीं जो सुगंध न मिले तो दुर्गंध का भार ही ढोता फिरता है। जिसे वे उपयोगी नहीं मानते उसके प्रति उनका किंचित मात्र भी मोह नहीं, चाहे तोड़ने योग्य वस्तुओं के साथ रक्षा के योग्य वस्तुएँ भी नष्ट हो जावें।

उनका मार्ग चाहे ऐसे भग्नावशेषों से भर गया हो जिनके पुनर्निर्माण में समय लगेगा पर ऐसी अडिग शिलाएँ नहीं है, जिनको देख-देख कर उन्हें निष्फल क्रोध में दाँत पीसना पड़े या निराश पराजय में आह भरना पड़े।

मनुष्य की संचय-वृत्ति ऐसी है कि वह अपनी उपयोगहीन वस्तुओं को भी संगृहीत रखना चाहता है। इसी स्वभाव के कारण बहुत-सी रूढ़ियाँ भी उसके जीवन के अभाव को भर देता है।

विद्रोह स्वभावगत होने के कारण निराला जी के लिए ऐसी रूढ़ियों पर प्रहार करना जितना प्रयासहीन होता है, उतना ही कौतुक का कारण।

दूसरों की बद्धमूल धारणाओं पर आघात कर उनकी खिजलाहट पर वे ऐसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे होली के दिन कोई नटखट लड़का, जिसने किसी की तीन पैर की कुर्सी के साथ किसी की सर्वांगपूर्ण चारपाई, किसी की टूटी तिपाई के साथ किसी की नई चौकी होलिका में स्वाहा कर डाली हो।

उनका विरोध द्वेषमूलक नहीं पर चोट कठिन होती है। इसके अतिरिक्त उनके संकल्प और कार्य के बीच में ऐसी प्रत्यक्ष कड़ियाँ नहीं रहतीं, जो संकल्प

के औचित्य और कर्म के सौंदर्य की व्याख्या कर सकें। उन्हें समझने के लिए जिस मात्रा में बौद्धिकता चाहिए उसी मात्रा में हृदय की संवेदनशीलता अपेक्षित रहती है। ऐसा संतुलन सुलभ न होने के कारण उन्हें पूर्णता में समझने वाले विरल मिलते हैं। ऐसे दो व्यक्ति सब जगह मिल सकते हैं जिनमें एक उनकी नम्र उदारता की प्रशंसा करते नहीं थकता और दूसरा उनके उद्धत व्यवहार की निंदा करते नहीं हारता। जो अपनी चोट के पार नहीं देख पाते वे उनके निकट पहुँच ही नहीं सकते, अत: उनके विद्रोही की असफलता प्रमाणित करने के लिए उनके चरित्र की उजली रेखाओं पर काली तूली फेर कर प्रतिशोध लेते रहते हैं। निराला जी के संबंध में फैली हुई भ्रांत किंवदंतियाँ इसी निम्नवृत्ति से संबंध रखती है।

मनुष्य-जाति की नासमझी का इतिहास क्रूर और लंबा है। प्राय: सभी युगों में मनुष्य ने अपने में से श्रेष्ठतम, पर समझ में न आनेवाले व्यक्ति को छाँट कर, कभी उसे विष दे कर, कभी सूली पर चढ़ा कर और कभी गोली का लक्ष्य बना कर अपनी बर्बर मूर्खता के इतिहास में नए पृष्ठ जोड़े हैं।

प्रकृति और चेतना ने जाने कितने निष्फल प्रयोगों के उपरांत ऐसे मनुष्य का सृजन कर पाती हैं, जो अपने स्रष्टाओं से श्रेष्ठ हो। पर उसके सजातीय, ऐसे अद्‌भुत सृजन को नष्ट करने के लिए इससे बड़ा कारण खोजने की भी आवश्यकता नहीं समझते कि वह उनकी समझ के परे है अथवा उसका सत्य इनकी भ्रांतियों से मेल नहीं खाता।

निराला जी अपने युग की विशिष्ट प्रतिभा हैं, अत: उन्हें अपने युग का अभिशाप झेलना पड़े तो आश्चर्य नहीं।

उनके जीवन के चारों ओर परिवार का वह लौहसार घेरा नहीं जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर चोट भी करता है और बाहर की चोटों के लिए ढाल भी बन जाता है। उनके निकट माता, बहन, भाई आदि के कोमल साहचर्य के अभाव का ही नाम शैशव रहा है। जीवन का वसंत ही उनके लिए पत्नी-वियोग का पतझड़ बन गया है। आर्थिक कारणों ने उन्हें अपनी मातृहीन संतान के कर्तव्य-निर्वाह की सुविधा भी नहीं दी। पुत्री के अंतिम क्षणों में वे निरूपाय दर्शक रहे और पुत्र को उचित शिक्षा से वंचित रखने के कारण उसकी उपेक्षा के पात्र बने।

अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्होंने कभी ऐसी हार नहीं मानी जिसे सह्य बनाने के लिए हम समझौता कहते हैं। स्वभाव से उन्हें वह निश्छल वीरता

मिली है, जो अपने बचाव के प्रयत्न को भी कायरता की संज्ञा देती है। उनकी वीरता राजनीतिक कुशलता नहीं, वह तो साहित्य की एकनिष्ठता का पर्याय है। छल के व्यूह में छिप कर लक्ष्य तक पहुँचने को साहित्य लक्ष्य-प्राप्ति नहीं मानता। जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बाधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचता है, उसी को युग-स्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं। निराला जी ऐसे ही विद्रोही साहित्यकार हैं। जिन अनुभवों के दंशन का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्च्छित कर के उसके सारे जीवन को विषाक्त बना देता है, उसी से उन्होंने सतत जागरुकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया है।

किसी की व्यथा इतनी हल्की नहीं जो उनके हृदय में गंभीर प्रतिध्वनि नहीं जगाती, किसी की आवश्यकता इतनी छोटी नहीं जो उन्हें सर्वस्व दान की प्रेरणा नहीं देती। अर्थ की जिस शिला पर हमारे युग के न जाने कितने साधकों की साधना तरियाँ चूर-चूर हो चुकी हैं, उसी को वे अपने अदम्य वेग में पार कर आए हैं। उनके जीवन पर उस संघर्ष के जो आघात हैं वे उनकी हार के नहीं, शक्ति के प्रमाणपत्र हैं। उनकी कठोर श्रम, गंभीर दर्शन और सजग कला की त्रिवेणी न अछोर मरू में सूखती है न अकूल समुद्र में अस्तित्व खोती है।

जीवन की दृष्टि से निराला जी किसी दुर्लभ सीप में ढले सुडौल मोती नहीं हैं, जिसे अपनी महार्धता का साथ देने के लिए स्वर्ण और सौंदर्य-प्रतिष्ठा के लिए अलंकार का रूप चाहिए। वे तो अनगढ़ पारस के भारी शिला-खंड हैं। न मुकुट में जड़ कर कोई उसकी गुरुता सँभाल सकता है और न पदत्राण बनाकर कोई उसका भार उठा सकता है। वह जहाँ हैं, वहीं उसका स्पर्श सुलभ है। यदि स्पर्श करने वाले में मानवता के लौह-परमाणु हैं तो किसी ओर से भी स्पर्श करने पर वह स्वर्ण बन जाएगा। पारस की अमूल्यता दूसरों का मूल्य बढ़ाने में हैं। उसके मूल्य में न कोई कुछ जोड़ सकता है, न घटा सकता है।

आज हम दंभ और स्पर्धा, अज्ञान और भ्रांति की ऐसी कुहेलिका में चल रही हैं जिसमें स्वयं को पहचानना तक कठिन है, सहयात्रियों को यथार्थता में जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर आने वाले युग इस कलाकार की एकाकी यात्रा का मूल्य आँक सकेंगे, जिसमें अपने पैरों की चाप तक आँधी में खो जाती है।

निराला जी के साहित्य की शास्त्रीय विवेचना तो आगामी युगों के लिए भी सुकर रहेगी, पर उस विवेचना के लिए जीवन की जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, उसे तो उनके समकालीन ही दे सकते हैं।

साहित्यकार के जीवन का विश्लेषण उसके साहित्य के मूल्यांकन से कठिन है। साहित्य की कसौटी सर्वमान्य होती है, पर उसकी उर्वर भूमि आलोचक के विशेष दृष्टिबिंदु को फूलने-फलने का आकाश दे सकती है। एक कविता का विशेष भाव, एक चित्र का विशेष रंग और एक गीत की विशेष लय, किसी के लिए रहस्य के द्वार खोल सकती है और किसी से टकरा कर व्यर्थ हो जाती है। पर जीवन का इतिवृत्त इतनी विविधता नहीं सँभाल सकता। एक व्यक्ति का कर्म समाज को या हानि पहुँचा सकता है या लाभ, अतः व्यक्तिगत रुचि के कारण यदि कोई हानि पहुँचाने वाले को अच्छा कहे या लाभ पहुँचाने वाले को बुरा तो समाज उसे अपराधी मानेगा। ऐसी स्थिति में कर्म के मूल्यांकन में विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है।

असाधारण प्रतिभावान और अपने युग से आगे देखने वाले कलाकारों के इतिवृत्त के चित्रण में एक और भी बाधा है। जब उनके समानधर्मा उनके जीवन का मूल्यांकन करते हैं तब कभी तो स्पर्धा उनकी तुला को ऊँचा-नीचा करती रहती है और कभी अपनी विशेषताओं का मोह उन्हें सहयोगियों में अपनी प्रतिकृति देखने के लिए विवश कर देता है। जब छोटे व्यक्तित्व वाले किसी असाधारण व्यक्तित्व की व्याख्या करने चलते हैं, तब कभी तो उनकी लघुता उसे घेर नहीं पाती और कभी उसके तीव्र आलोक में अपने अहं को उद्‌भासित कर लेने की दुर्बलता उन्हें घेर लेती है।

इस प्रकार महान कलाकारों के यथार्थचित्र व्याख्याबहुल हों तो विस्मय की बात नहीं।

साहित्य के नवीन युगपथ पर निराला जी की अंक-संसृति गहरी और स्पष्ट उज्ज्वल और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण का चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।

समालोचना

डा. भवानी दास

तुलसीदास जी की ही कोटि के हिन्दी के प्रमुख कवि हैं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। पंडित रामसहाय तिवारी के पुत्र 'निराला' का जन्म 1897 ई. में बंगाल की रियासत (जिला मेदिनी पुर) में हुआ। रामसहाय उन्नाव (वैसवाड़ा) के रहने वाले थे। छोटी नौकरी की असुविधाओं और मान-अपमान

का परिचय निराला को आरम्भ से ही प्राप्त हुआ। सामन्त वर्ग अपने कर्मचारियों से भी अधिक जुल्म किसानों पर करता था। निराला ने दलित-शोषित किसान के साथ हमददवर्ी का संस्कार अपने अबोधपन से ही अर्जित किया।

सुख-सुविधाओं का अभाव इन्हें बचपन से ही था। तीन वर्ष की आयु में माता का और 20 वर्ष का होते-होते पिता का देहान्त हो गया। अपने बच्चों के अलावा संयुक्त परिवार का भी बोझ निराला पर पड़ा पहले महायुद्ध के बाद जो महामारी फैली उसमें न सिर्फ पत्नी मनोहरा देवी का, बल्कि चाचा, भाई और भाभी का देहान्त हो गया। शेष कुनबे का बोझ उठाने में महिषादल की नौकरी अपर्याप्त थी। फिर भी निराला ने इस क्षीण सहारे को ग्रहण किया। अपने श्रम पर विश्वास रखने वाले निराला अपने सम्मान के प्रति सचेत थे। चाटुकारिता से आगे बढ़ने वालों की भाँति निर्लज्ज और स्वाभिमानरहित वे न हो सकते थे। किसानों के पक्ष में बोलने वाले निराला महर्षिदल राज्य के अधिकारियों का साथ लम्बे समय तक निभा पाते, यह कठिन था, स्वभावत: राजा साहब के हाउस होल्ड सुपरिण्टेंण्डेण्ट से विवाद हुआ और नौकरी छूट गयी।

इसके बाद का सारा जीवन आर्थिक अनर्थ और संघर्ष का जीवन है। इस जीवन में उतार-चढ़ाव, पस्ती-साहस, निराशा और पौरुष के अनेक मोड़ देखे जा सकते हैं। निराला के जीवन की सबसे विशेष बात यह है कि कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी इन्होंने सिद्धान्त त्यागकर समझौते का रास्ता नहीं अपनाया, संघर्ष का साहस नहीं गवाँया। अन्तिम दिनों में वे शरीर से बेहद जर्जर हो गए मानसिक असंतुलन के भी क्षण आते थे, हार्निया आदि रोगों से भी बेहद पीड़ित थे। जीवन का उत्तरार्द्ध इलाहाबाद में बीता। यहीं दारागंज मुहल्ले में अंग्रेजों के बनाए रायसाहब की विशाल कोठी में ठीक पीछे सीलन और अन्धकार सी एक कोठरी (कालकोठरी) में 15 अक्टूबर 1961 ई. को इन्होंने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी।

निराला जी मूलत: कवि थे, पर बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण इनकी लेखनी साहित्य की हर विद्या पर चली। इनके काव्य हैं 'अनामिका', 'गीतिका', 'परिमल', 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते', 'वेला', 'अर्चना', 'अणिमा', 'गीत-पुन्ज', 'अराधना', 'सांध्यकाकली', 'तुलसीदास' आदि। कहानी और रेखाचित्र हैं 'चतुरी चमार', 'सुखी', 'सुकुल की बीवी', 'लिली'। इनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं 'अप्सरा', 'अलका', 'निरूपमा', 'प्रभावती', 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्लीभाट,' 'चमेली' एवं 'काले-कारनामे'।

इनके निबन्ध-संग्रह हैं 'प्रबन्ध पद्य', 'प्रबन्ध-प्रतिमा', 'चाबुक'। नाटक के रूप में इन्होंने 'शकुन्तला' लिखा। जीवनी और अनूदित रचनाएँ हैं 'राणाप्रताप', 'प्रहलाद', 'भीम', 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत', 'विवेकानन्द के भाषण', 'महाभारत', 'देवी चौधरानी', 'आनंदमठ'।

साहित्यकार के रूप में भी निराला का जीवन बहुत ही संघर्षमय था। रूढ़िवादी साहित्यकारों और पत्राकारों का दल संगठित होकर निराला का विरोध करता था। निराला के काव्य में इस विरोध का जिक्र बार-बार आता है। स्वभावत: साहित्यिक मान्यता निराला को उतनी आसानी से नहीं मिली। साथ ही, साहित्य-सेवा निराला को आजीविका देने में भी असमर्थ थी। साहित्य-सेवा और आजीविका के बीच इस विरोध का बड़ा मार्मिक चित्र निराला ने अपनी पुत्री के निधन पर लिखी अपनी एक अत्यंत श्रेष्ठ कविता 'सरोजस्मृति' (1935) में खींचा है। कवि ''कविकर्म में व्यर्थ ही व्यस्त'' है। शब्दों की कविता की इस सेवा में ''जीवित कविता'' की उपेक्षा होती है। एक दिन सिर्फ दु:ख और पीड़ा झेलते हुए यह ''जीवित कविता'' 'सरोज' संसार-सागर पार करके मृत्यु का वरण कर लेती है। सरोज के माध्यम से अपने पूरे साहित्यिक और आर्थिक जीवन की समीक्षा करते हुए कवि सरस्वती के प्रकाश को व्यर्थ होता हुआ अनुभव करता है। पीड़ा और ग्लानि से भरकर अपने कविकर्म पर वज्रपात करता है।

लेकिन यह उनके साहित्यिक जीवन का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि नये प्रगतिशील चिन्तन वाले साहित्यकार पूरी दृढ़ता से निराला के साथ खड़े हुए। हमारे युग के सबसे महान आलोचकों में एक डा. रामविलास शर्मा ने अपना पहला लेख निराला पर ही लिखा 1935-36 में। लखनऊ और इलाहाबाद में नये प्रगतिशील साहित्यकारों की टोली निराला के आसपास रहती थी। इस दृष्टि से देखा जाए तो यह प्रकट होता है कि निराला का साहित्य ही नहीं, उनकी शारीरिक उपस्थिति भी रूढ़िवादी-रीतिवादी साहित्यकारों और नये, प्रगतिशील लेखकों-विचारकों के बीच संघर्ष का प्रेरक था। निराला के व्यक्तित्व और साहित्य की यह ऐसी विशेषता है कि कोई उनकी उपेक्षा करके नहीं निकल सकता, उसे या तो निराला के साथ होना पड़ता या उसके विरूद्ध।

निराला जीवन और साहित्य में विरोध मानने वाले न थे। इसलिए यह स्वभाविक था कि वे अपने काव्य में भी संघर्ष को जीवन के एक बड़े मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करें। निराला की खूबी यह है कि वे अपने ही नहीं, समाज

में अन्य व्यक्तियों और वर्गों के संघर्ष को भी बराबर महत्त्व देते रहे हैं। अक्सर उन्हें संघर्ष और पौरुष का, परिवर्तन, विद्रोह और क्रान्ति का कवि कहा जाता है इसका कारण यही है। इनके कहानी उपन्यास में भी समाज के दलित और संघर्षरत मनुष्यों का गौरव निखरकर सामने आता है। अकारण ही नहीं 'बादल राग' में अधीर-कृषक ''विप्लव के वीर'' को बुलाता है और 'इलाहाबाद के पथ पर' चिलचिलाती लू में पत्थर तोड़ती मजदूरनी निराला की सहानुभूति में रंग जाती है। देवी, चतुरी चमार, कुल्ली भाट जैसे संघर्षरत चरित्र और उनके साथ पूरा किसान समुदाय अंग्रेजों और उनके सहायक जमींदारों के खिलाफ अपनी स्वतंत्राता के लिए लड़ता हुआ निराला की रचनाओं में गौरवान्वित होता है। सारांश यह है कि निराला की सहानुभूति हर उस व्यक्ति या वर्ग से है जो जीवन में सताया हुआ है, जो अपने ऊपर होने वाले अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष के लिए आगे बढ़ता है और जो दूसरों को लूट कर फलने-फूलने के बजाय अपने श्रम से जीविका अर्जित करता है।

किसान निराला के सामने सबसे अधिक पीड़ित और पिछड़ा हुआ था। निराला का सहज-बोध भारतीय किसान के साथ अट्ट रूप से बँधा है। यह किसान अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ने वाली शक्ति है और रूढ़ियों से जकड़े हुए सामन्ती बन्धनों को तोड़कर भारतीय समाज के प्रगति का द्वार खोलने वाली शक्ति थी। किसान का यह रूप निराला के निबन्धों, कहानियों और कविताओं में सर्वत्र देखा जा सकता है। साथ ही भारतीय प्रकृति और सांस्कृतिक समृद्धि का भी मुख्य आधार किसान है। किसान के साथ अपने सहजबोध के दृढ़ सम्बन्ध के कारण निराला प्रकृति के सौन्दर्य और जीवन के उल्लास के भी उतने ही बड़े कवि हैं, जितने संघर्ष के। सौन्दर्य, उल्लास और संघर्ष में आपसी विरोध नहीं है। इसका कारण है जीवन में, मनुष्य के कर्म और सुखमय भविष्य में निराला की अडिग आस्था।

निराला के काव्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता है चित्राण-कौशल। आन्तरिक भाव हों या बाह्य-जगत के दृश्य रूप, संगीतात्मक ध्वनियाँ हो या रंग या गंध, सजीव चरित्र हों या प्राकृतिक दृश्य, सभी अलग-अलग लगने वाले तत्त्वों को घुला-मिलाकर निराला ऐसा जीवन्त-चित्र उपस्थित करते हैं कि पढ़ने वाला उनके माध्यम से ही निराला के मर्म तक पहुँच सकता है। निराला के चित्रों में उनका भावबोध ही नहीं, उनका चिंतन भी सम्भावित रहता है। इसलिए उनकी बहुत सी कविताओं में दार्शनिक गहराई उत्पन्न हो जाती है। इस नए चित्राण-कौशल

और दार्शनिक गहराई के कारण ही अक्सर निराला की कविताएँ कुछ जटिल हो जातीं हैं, जिसे न समझने के नाते विचारक लोग उन पर दुरुहता आदि का आरोप लगाते हैं। निराला आन्तरिक भावों या दार्शनिक विचारों को उद्‌गार या भाषण के रूप में प्रस्तुत नहीं करते, दृश्य रूपों पर आधारित चित्रों की रचना में इन भावनाओं और विचारों का ईंट-गारे के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इससे उनकी कला में न सिर्फ दृढ़ता का गुण उत्पन्न होता है, बल्कि कलाकार के रूप में उनके सामर्थ्य और दृष्टि का भी परिचय मिलता है।

वसंत का अग्रदूत (संस्मरण) अज्ञेय

'निराला' जी को स्मरण करते हुए एकाएक शांतिप्रिय द्विवेदी की याद आ जाए, इसकी पूरी व्यंजना तो वही समझ सकेंगे जिन्होंने इन दोनों महान विभूतियों को प्रत्यक्ष देखा था यों औरों ने शांतिप्रियजी का नाम प्रायः सुमित्रानंदन पंत के संदर्भ में लिया है क्योंकि वास्तव में तो वह पंतजी के ही भक्त थे, लेकिन मैं निरालाजी के पहले दर्शन के लिए इलाहाबाद में पंडित वाचस्पति पाठक के घर जा रहा था तो देहरी पर ही एक सींकिया पहलवान के दर्शन हो गए जिसने मेरा रास्ता रोकते हुए एक टेढ़ी उँगली मेरी ओर उठाकर पूछा, 'आपने निरालाजी के बारे में 'विश्वभारती' पत्रिका में बड़ी अनर्गल बातें लिख दी हैं।' यह सींकिया पहलवान, जो यों अपने को कृष्ण-कन्हैया से कम नहीं समझता था और इसलिए हिंदी के सारे रसिक समाज के विनोद का लक्ष्य बना रहता था, शांतिप्रिय की अभिधा का भूषण था।

जिस स्वर में सवाल मुझसे पूछा गया था उससे शांतिप्रियता टपक रही हो ऐसा नहीं था। आवाज तो रसिक-शिरोमणि की जैसी थी वैसी थी ही, उसमें भी कुछ आक्रामक चिड़चिड़ापन भरकर सवाल मेरी ओर फेंका गया था। मैंने कहा, ''लेख आपने पढ़ा है ?''

'नहीं, मैंने नहीं पढ़ा, लेकिन मेरे पास रिपोर्टें आई हैं!'

'तब लेख आप पढ़ लीजिएगा तभी बात होगी,' कहकर मैं आगे बढ़ गया। शांतिप्रियजी की 'युद्धं देहि' वाली मुद्रा एक कुंठित मुद्रा में बदल गई और वह बाहर चले गए।

यों 'रिपोर्टें' सही थीं। 'विश्वभारती' पत्रिका में मेरा एक लंबा लेख छपा था। आज यह मानने में भी मुझे कोई संकोच नहीं है कि उसमें निराला के साथ घोर अन्याय किया गया था। यह बात 1936 की है जब 'विशाल भारत' में पंडित

बनारसीदास चतुर्वेदी निराला के विरुद्ध अभियान चला रहे थे। यों चतुर्वेदी का आक्रोश निरालाजी के कुछ लेखों पर ही था, उनकी कविताओं पर उतना नहीं (कविता से तो वह बिलकुल अछूते थे), लेकिन उपहास और विडंबन का जो स्वर चतुर्वेदीजी की टिप्पणियों में मुखर था उसका प्रभाव निरालाजी के समग्र कृतित्व के मूल्यांकन पर पड़ता ही था और मेरी अपरिपक्व बुद्धि पर भी था ही।

अब यह भी एक रोचक व्यंजना-भरा संयोग ही है कि सींकिया पहलवान से पार पाकर मैं भीतर पहुँचा तो वहाँ निरालाजी के साथ एक दूसरे दिग्गज भी विराजमान थे जिनके खिलाफ भी चतुर्वेदीजी एक अभियान चला चुके थे। एक चौकी के निकट आमने-सामने निराला और 'उग्र' बैठे थे। दोनों के सामने चौकी पर अधभरे गिलास रखे थे और दोनों के हाथों में अधजले सिगरेट थे।

उग्रजी से मिलना पहले भी हो चुका था, मेरे नमस्कार को सिर हिलाकर स्वीकार करते हुए उन्होंने निराला से कहा, 'यह अज्ञेय है।'

निरालाजी ने एक बार सिर से पैर तक मुझे देखा। मेरे नमस्कार के जवाब में केवल कहा, 'बैठो।'

मैं बैठने ही जा रहा था कि एक बार फिर उन्होंने कहा, 'जरा सीधे खड़े हो जाओ।'

मुझे कुछ आश्चर्य तो हुआ, लेकिन मैं फिर सीधा खड़ा हो गया। निरालाजी भी उठे और मेरे सामने आ खड़े हुए। एक बार फिर उन्होंने सिर से पैर तक मुझे देखा, मानो तौला और फिर बोले, 'ठीक है।' फिर बैठते हुए उन्होंने मुझे भी बैठने को कहा। मैं बैठ गया तो मानो स्वगत-से स्वर में उन्होंने कहा, 'डौल तो रामबिलास जैसा ही है।'

रामविलास (डॉ. रामविलास शर्मा) पर उनके गहरे स्नेह की बात मैं जानता था, इसलिए उनकी बात का अर्थ मैंने यही लगाया कि और किसी क्षेत्र में न सही, एक क्षेत्र में तो निरालाजी का अनुमोदन मुझे मिल गया है। मैंने यह भी अनुमान किया कि मेरे लेख की 'रिपोर्टें' अभी उन तक नहीं पहुँची या पहुँचायी गई हैं।

निरालाजी सामान्य शिष्टाचार की बातें करते रहे-क्या करता हूँ, कैसे आना हुआ आदि। बीच में उग्रजी ने एकाएक गिलास की ओर इशारा करते हुए पूछा, 'लोगे ?' मैंने सिर हिला दिया तो फिर कुछ चिढ़ाते हुए स्वर में बोले, 'पानी नहीं है, शराब है, शराब।'

मैंने कहा, 'समझ गया, लेकिन मैं नहीं लेता।'

निरालाजी के साथ फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। कविता की बात न उठाना मैंने भी श्रेयस्कर समझा।

थोड़ी देर बाद उग्रजी ने फिर कहा, 'जानते हो, यह क्या है ? शराब है, शराब।'

अपनी अनुभवहीनता के बावजूद तब भी इतना तो मैं समझ ही सकता था कि उग्रजी के इस आक्रामक रवैये का कारण वह आलोचना और भर्त्सना ही है जो उन्हें वर्षों से मिलती रही है। लेकिन उसके कारण वह मुझे चुनौती दें और मैं उसे मानकर अखाड़े में उतरूँ, इसका मुझे कोई कारण नहीं दीखा। यह भी नहीं कि मेरे जानते शराब पीने का समय शाम का होता, दिन के ग्यारह बजे का नहीं! मैंने शांत स्वर में कहा, 'तो क्या हुआ, उग्रजी, आप सोचते हैं कि शराब के नाम से मैं डर जाऊँगा ? देश में बहुत से लोग शराब पीते हैं।'

निरालाजी केवल मुस्कुरा दिए, कुछ बोले नहीं। थोड़ी देर बाद मैं विदा लेने को उठा तो उन्होंने कहा, 'अबकी बार मिलोगे तो तुम्हारी रचना सुनेंगे।'

मैंने खैर मनायी कि उन्होंने तत्काल कुछ सुनाने को नहीं कहा, 'निरालाजी, मैं तो यही आशा करता हूँ कि अबकी बार आपसे कुछ सुनने को मिलेगा।'

आशा मेरी ही पूरी हुई–इसके बाद दो-तीन बार निरालाजी के दर्शन ऐसे ही अवसरों पर हुए जब उनकी कविता सुनने को मिली। ऐसी स्थिति नहीं बनी कि उन्हें मुझसे कुछ सुनने की सूझे और मैंने इसमें अपनी कुशल ही समझी।

इसके बाद की जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उससे पहले निरालाजी के काव्य के विषय में मेरा मन पूरी तरह बदल चुका था। वह परिवर्तन कुछ नाटकीय ढंग से ही हुआ। शायद कुछ पाठकों के लिए यह भी आश्चर्य की बात होगी कि वह उनकी 'जुही की कली' अथवा 'राम की शक्तिपूजा' पढ़कर नहीं हुआ, उनका 'तुलसीदास' पढ़कर हुआ। अब भी उस अनुभव को याद करता हूँ तो मानो एक गहराई में खो जाता हूँ। अब भी 'राम की शक्तिपूजा' अथवा निराला के अनेक गीत बार-बार पढ़ता हूँ, लेकिन 'तुलसीदास' जब-जब पढ़ने बैठता हूँ तो इतना ही नहीं कि एक नया संसार मेरे सामने खुलता है, उससे भी विलक्षण बात यह है कि वह संसार मानो एक ऐतिहासिक अनुक्रम में घटित होता हुआ दीखता है। मैं मानो संसार का एक स्थिर चित्र नहीं बल्कि एक जीवंत चलचित्र देख रहा हूँ। ऐसी रचनाएँ तो कई होती हैं जिनमें एक रसिक हृदय बोलता है। विरली ही रचना ऐसी होती है जिसमें एक सांस्कृतिक चेतना

सर्जनात्मक रूप से अवतरित हुई हो। 'तुलसीदास' मेरी समझ में ऐसी ही एक रचना है। उसे पहली ही बार पढ़ा तो कई बार पढ़ा। मेरी बात में जो विरोधाभास है वह बात को स्पष्ट ही करता है। 'तुलसीदास' के इस आविष्कार के बाद संभव नहीं था कि मैं निराला की अन्य सभी रचनाएँ फिर से न पढ़ूँ, 'तुलसीदास' के बारे में अपनी धारणा को अन्य रचनाओं की कसौटी पर कसकर न देखूँ।

अगली जिस भेंट का उल्लेख करना चाहता हूँ उसकी पृष्ठभूमि में कवि निराला के प्रति यह प्रगाढ़ सम्मान ही था। काल की दृष्टि से यह खासा व्यतिक्रम है क्योंकि जिस भेंट की बात मैं कर चुका हूँ, वह सन् 36 में हुई थी और यह दूसरी भेंट सन् 51 के ग्रीष्म में। बीच के अंतराल में अनेक बार अनेक स्थलों पर उनसे मिलना हुआ था और वह एक-एक, दो-दो दिन मेरे यहाँ रह भी चुके थे, लेकिन उस अंतराल की बात बाद में करूँगा।

मैं इलाहाबाद छोड़कर दिल्ली चला आया था, लेकिन दिल्ली में अभी ऐसा कोई काम नहीं था कि उससे बँधा रहूँ, अकसर पाँच-सात दिन के लिए इलाहाबाद चला जाता था। निरालाजी तब दारागंज में रहते थे। मानसिक विक्षेप कुछ बढ़ने लगा था और कभी-कभी वह बिलकुल ही बहकी हुई बातें करते थे, लेकिन मेरा निजी अनुभव यही था कि काफी देर तक वह बिलकुल संयत और संतुलित विचार-विनिमय कर लेते थे, बीच-बीच में कभी बहकते भी तो दो-चार मिनट में ही फिर लौट आते थे। मैं शायद उनकी विक्षिप्त स्थिति की बातों को भी सहज भाव से ले लेता था, या बहुत गहरे में समझता था कि जीनियस और पागलपन के बीच का पर्दा काफी झीना होता है- कि निराला का पागलपन 'जीनियस का पागलपन' है, इसीलिए वह भी सहज ही प्रकृतावस्था में लौट आते थे। इतना ही था कि दो-चार व्यक्तियों और दो-तीन संस्थाओं के नाम मैं उनके सामने नहीं लेता था और अँग्रेजी का कोई शब्द या पद अपनी बात में नहीं आने देता था-क्योंकि यह मैं लक्ष्य कर चुका था कि इन्हीं से उनके वास्तविकता बोध की गाड़ी पटरी से उतर जाती थी।

उस बार 'सुमन' (शिवमंगल सिंह) भी आए हुए थे और मेरे साथ ही ठहरे थे। मैं निरालाजी से मिलने जानेवाला था और 'सुमन' भी साथ चलने को उत्सुक थे। निश्चय हुआ कि सवेरे-सवेरे ही निरालाजी से मिलने जाया जाएगा-वही समय ठीक रहेगा। लेकिन सुमनजी को सवेरे तैयार होने में बड़ी कठिनाई होती है। पलंग-चाय, पूजा-पाठ और सिंगार-पट्टी में नौ बज ही जाते हैं और उस दिन भी बज गए। हम दारागंज पहुँचे तो प्रायः दस बजे का समय था।

निरालाजी अपने बैठके में नहीं थे। हम लोग वहाँ बैठ गए और उनके पास सूचना चली गई कि मेहमान आए हैं। निरालाजी उन दिनों अपना भोजन स्वयं बनाते थे और उस समय रसोई में ही थे। कोई दो मिनट बाद उन्होंने आकर बैठके में झाँका और बोले, 'अरे तुम !' और तत्काल ओट हो गए।

सुमनजी तो रसोई में खबर भिजवाने के लिए मेरा पूरा नाम बताने चले गए थे, लेकिन अपने नाम की कठिनाई मैं जानता हूँ इसीलिए मैंने संक्षिप्त सूचना भिजवायी थी कि 'कोई मिलने आए हैं'। क्षणभर की झाँकी में हमने देख लिया कि निरालाजी केवल कौपीन पहने हुए थे। थोड़ी देर बाद आए तो उन्होंने तहमद लगा ली थी और कंधे पर अँगोछा डाल लिया था।

बातें होने लगीं। मैं तो बहुत कम बोला। यों भी कम बोलता और इस समय यह देखकर कि निरालाजी बड़ी संतुलित बातें कर रहे हैं मैंने चुपचाप सुनना ही ठीक समझा। लेकिन सुमनजी और चुप रहना? फिर वह तो निराला को प्रसन्न देखकर उन्हें और भी प्रसन्न करना चाह रहे थे, इसलिए पूछ बैठे, 'निरालाजी, आजकल आप क्या लिख रहे हैं?'

यों तो किसी भी लेखक को यह प्रश्न एक मूर्खतापूर्ण प्रश्न जान पड़ता है। शायद सुमन से कोई पूछे तो उन्हें भी ऐसा ही लगे। फिर भी न जाने क्यों लोग यह प्रश्न पूछ बैठते हैं।

निराला ने एकाएक कहा, 'निराला, कौन निराला? निराला तो मर गया। निराला इज डेड।'

अँग्रेजी का वाक्य सुनकर मैं डरा कि अब निराला बिलकुल बहक जाएँगे और अँग्रेजी में न जाने क्या-क्या कहेंगे, लेकिन सौभाग्य से ऐसा हुआ नहीं। हमने अनुभव किया कि निराला जो बात कह रहे हैं वह मानो सच्चे अनुभव की ही बात है—जिस निराला के बारे में सुमन ने प्रश्न पूछा था वह सचमुच उनसे पीछे कहीं छूट गया है। निराला ने मुझसे पूछा, 'तुम कुछ लिख रहे हो ?'

मैंने टालते हुए कहा, 'कुछ-न-कुछ तो लिखता ही हूँ, लेकिन उससे संतोष नहीं है- वह उल्लेख करने लायक भी नहीं है।'

इसके बाद निरालाजी ने जो चार-छः वाक्य कहे उनसे मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें याद करता हूँ तो आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि हिंदी काव्य-रचना में जो परिवर्तन हो रहा था, उसकी इतनी खरी पहचान निराला को थी-उस समय के तमाम हिंदी आचार्यों से कहीं अधिक सही और अचूक- और वह तब जब कि ये सारे आचार्य उन्हें कम-से-कम आधा विक्षिप्त तो मान ही रहे थे।

निराला ने कहा, 'तुम जो लिखते हो वह मैंने पढ़ा है।' (इस पर सुमन ने कुछ उमँगकर पूछना चाहा था, 'अरे निरालाजी, आप अज्ञेय का लिखा हुआ भी पढ़ते हैं?' मैंने पीठ में चिकोटी काटकर सुमन को चुप कराया और अचरज यह कि वह चुप भी हो गए– शायद निराला की बात सुनने का कुतूहल जयी हुआ) निराला का कहना जारी रहा, 'तुम क्या करना चाहते हो वह हम समझते हैं।' थोड़ी देर रुककर और हम दोनों को चुपचाप सुनते पाकर उन्होंने बात जारी रखी। 'स्वर की बात तो हम भी सोचते थे। लेकिन असल में हमारे सामने संगीत का स्वर रहता था और तुम्हारे सामने बोलचाल की भाषा का स्वर रहता है।' वह फिर थोड़ा रुक गए, सुमन फिर कुछ कहने को कुलबुलाए और मैंने उन्हें फिर टोक दिया। 'ऐसा नहीं है कि हम बात को समझते नहीं हैं। हमने सब पढ़ा है और हम सब समझते हैं। लेकिन हमने शब्द के स्वर को वैसा महत्त्व नहीं दिया, हमारे लिए संगीत का स्वर ही प्रमाण था।' मैं फिर भी चुप रहा, सुनता रहा। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य की बात थी कि निराला इस अंतर को इतना स्पष्ट पहचानते हैं। बड़ी तेजी से मेरे मन के सामने उनकी 'गीतिका' की भूमिका और फिर सुमित्रानंदन पंत के 'पल्लव' की भूमिका दौड़ गई थी। दोनों ही कवियों ने अपने प्रारंभिक काल की कविता की पृष्ठभूमि में स्वर का विचार किया था, यद्यपि बिलकुल अलग-अलग ढंग से। उन भूमिकाओं में भी यह स्पष्ट था कि निराला के सामने संगीत का स्वर है, कविता के स्वर और ताल का विचार वह संगीत की भूमि पर खड़े होकर ही करते हैं, जबकि स्वर और स्वर-मात्र के विचार में पंत के सामने संगीत का नहीं, भाषा का ही स्वर था और सांगीतिकता के विचार में भी वह व्यंजन-संगीत से हटकर स्वर-संगीत को वरीयता दे रहे थे। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पल्लव' के पंत, 'गीतिका' के निराला से आगे या अधिक 'आधुनिक' थे। लेकिन जिस भेंट का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उसमें निराला का स्वर-संवेदन कहीं आगे था जबकि उस समय तक पंत अपनी प्रारंभिक स्थापनाओं से न केवल आगे नहीं बढ़े थे बल्कि कुछ पीछे ही हटे थे (और फिर पीछे ही हटते गए)। उस समय का नए से नया कवि भी मानने को बाध्य होता कि अगर कोई पाठक उसके स्वर से स्वर मिलाकर उसे पढ़ सकता है तो वह आदर्श सहृदय पाठक निराला ही है। एक पीढ़ी का महाकवि परवर्ती पीढ़ी के काव्य को इस तरह समझ सके, परवर्ती कवि के लिए इससे अधिक आप्यायित करनेवाली बात क्या हो सकती है।

सुमन ने कहा, 'निरालाजी, अब इसी बात पर अपना एक नया गीत सुना दीजिए।'

मैंने आशंका-भरी आशा के साथ निराला की ओर देखा। निराला ने अपनी पुरानी बात दोहरा दी, 'निराला इज डेड। आई एम नॉट निराला!'

सुमन कुछ हार मानते हुए बोले, 'मैंने सुना है, आपकी नई पुस्तक आई है 'अर्चना'। वह आपके पास है-हमें दिखाएँगे ?'

निराला ने एक वैसे ही खोये हुए स्वर में कहा, 'हाँ, आई तो है, देखता हूँ।' वह उठकर भीतर गए और थोड़ी देर में पुस्तक की दो प्रतियाँ ले आए। बैठते हुए उन्होंने एक प्रति सुमन की ओर बढ़ायी जो सुमन ने ले ली। दूसरी प्रति निराला ने दूसरे हाथ से उठायी, लेकिन मेरी ओर बढ़ायी नहीं, उसे फिर अपने सामने रखते हुए बोले, 'यह तुमको दूँगा।'

सुमन ने ललककर कहा, 'तो यह प्रति मेरे लिए है ? तो इसमें कुछ लिख देंगे ?'

निराला ने प्रति सुमन से ले ली और आवरण खोलकर मुखपृष्ठ की ओर थोड़ी देर देखते रहे। फिर पुस्तक सुमन को लौटाते हुए बोले, 'नहीं, मैं नहीं लिखूँगा। वह निराला तो मर गया।'

सुमन ने पुस्तक ले ली, थोड़े-से हतप्रभ तो हुए, लेकिन यह तो समझ रहे थे कि इस समय निराला को उनकी बात से डिगाना संभव नहीं होगा।

निराला फिर उठकर भीतर गए और कलम लेकर आए। दूसरी प्रति उन्होंने उठायी, खोलकर उसके पुश्ते पर कुछ लिखने लगे। मैं साँस रोककर प्रतीक्षा करने लगा। मन तो हुआ कि जरा झुककर देखूँ कि क्या लिखने जा रहे हैं, लेकिन अपने को रोक लिया। कलम की चाल से मैंने अनुमान किया कि कुछ अँग्रेजी में लिख रहे हैं।

दो-तीन पंक्तियाँ लिखकर उनका हाथ थमा। आँख उठाकर एक बार उन्होंने मेरी ओर देखा और फिर कुछ लिखने लगे। इसी बीच सुमन ने कुछ इतराते हुए-से स्वर में कहा, 'निरालाजी, इतना पक्षपात ? मेरे लिए तो आपने कुछ लिखा नहीं और...'

निरालाजी ने एक-दो अक्षर लिखे थे, लेकिन सुमन की बात पर चौंककर रुक गए। उन्होंने फिर कहा, 'नहीं, नहीं, निराला तो मर गया। देयर इज नो निराला। निराला इज डेड।'

अब मैंने देखा कि पुस्तक में उन्होंने अँग्रेजी में नाम के पहले दो अक्षर लिखे थे-एन, आई, लेकिन अब उसके आगे दो बिंदियाँ लगाकर नाम अधूरा छोड़ दिया, नीचे एक लकीर खींची और उसके नीचे तारीख डाली 18-5-51 और पुस्तक मेरी ओर बढ़ा दी।

पुस्तक मैंने ले ली। तत्काल खोलकर पढ़ा नहीं कि उन्होंने क्या लिखा है। निराला ने इसका अवसर भी तत्काल नहीं दिया। खड़े होते हुए बोले – 'तुम लोगों के लिए कुछ लाता हूँ।'

मैंने बात की व्यर्थता जानते हुए कहा, 'निरालाजी, हम लोग अभी नाश्ता करके चले थे, रहने दीजिए।' और इसी प्रकार सुमन ने भी जोड़ दिया, 'बस, एक गिलास पानी दे दीजिए।'

'पानी भी मिलेगा,' कहते हुए निराला भीतर चले गए। हम दोनों ने अर्थभरी दृष्टि से एक-दूसरे को देखा। मैंने दबे स्वर में कहा, 'इसीलिए कहता था कि सवेरे जल्दी चलो।'

फिर मैंने जल्दी से पुस्तक खोलकर देखा कि निरालाजी ने क्या लिखा था। कृतकृत्य होकर मैंने पुस्तक फुर्ती से बंद की तो सुमन ने उतावली से कहा, 'देखें, देखें...'

मैंने निर्णयात्मक ढंग से पुस्तक घुटने के नीचे दबा ली, दिखाई नहीं। घर पहुँचकर भी देखने का काफी समय रहेगा।

इस बीच निराला एक बड़ी बाटी में कुछ ले आए और हम दोनों के बीच बाटी रखते हुए बोले, 'लो, खाओ, मैं पानी लेकर आता हूँ,' और फिर भीतर लौट गए।

बाटी में कटहल की भुजिया थी। बाटी में ही सफाई से उसके दो हिस्से कर दिए गए थे।

निराला के लौटने तक हम दोनों रुके रहे। यह क्लेश हम दोनों के मन में था कि निरालाजी अपने लिए जो भोजन बना रहे थे वह सारा-का-सारा उन्होंने हमारे सामने परोस दिया और अब दिन-भर भूखे रहेंगे। लेकिन मैं यह भी जानता था कि हमारा कुछ भी कहना व्यर्थ होगा-निराला का आतिथ्य ऐसा ही जालिम आतिथ्य है। सुमन ने कहा, ''निरालाजी, आप...''

''हम क्या?''

'निरालाजी, आप नहीं खाएँगे तो हम भी नहीं खाएँगे।'

निरालाजी ने एक हाथ सुमन की गर्दन की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'खाओगे कैसे नहीं? हम गुद्दी पकड़कर खिलाएँगे।'

सुमन ने फिर हठ करते हुए कहा, 'लेकिन, निरालाजी, यह तो आपका भोजन था। अब आप क्या उपवास करेंगे ?'

निराला ने स्थिर दृष्टि से सुमन की ओर देखते हुए कहा, 'तो भले आदमी, किसी से मिलने जाओ तो समय-असमय का विचार भी तो करना होता है।' और फिर थोड़ा घुड़ककर बोले – 'अब आए हो तो भुगतो।'

हम दोनों ने कटहल की वह भुजिया किसी तरह गले से नीचे उतारी। बहुत स्वादिष्ट बनी थी, लेकिन उस समय स्वाद का विचार करने की हालत हमारी नहीं थी।

जब हम लोग बाहर निकले तो सुमन ने खिन्न स्वर में कहा, 'भाई, यह तो बड़ा अन्याय हो गया।'

मैंने कहा, 'इसीलिए मैं कल से कह रहा था कि सवेरे जल्दी चलना है, लेकिन आपको तो सिंगार-पट्टी से और कोल्ड-क्रीम से फुरसत मिले तब तो! नाम 'सुमन' रख लेने से क्या होता है अगर सवेरे-सवेरे सहज खिल भी न सकें!'

यों हम लोग लौट आए। घर आकर फिर अर्चना की मेरी प्रति खोलकर हम दोनों ने पढ़ा। निराला ने लिखा था –

ToA jneya,
the Poet, Writer and Novelist
in the foremost rank A
Ni..।
18.5.51

सन् '36 और सन् '51 के बीच, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, निरालाजी से अनेक बार मिलन हुआ। उनके 'तुलसीदास' का पहला प्रकाशन 1938 में हुआ था और मैंने उनकी रचनाओं के बारे में अपनी धारणा के आमूल परिवर्तन की घोषणा रेडियो से जिस समीक्षा में की थी उसका प्रसारण शायद 1940 के आरंभ में हुआ था। मेरठ में 'हिंदी साहित्य परिषद्' के समारोह के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया तो आमंत्रण उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और मेरठ के प्रवास में वह कुछ समय श्रीमती होमवती देवी के यहाँ और कुछ समय मेरे यहाँ ठहरे। होमवतीजी उस समय परिषद् की अध्यक्षा भी थीं और निरालाजी को अपने यहाँ ठहराने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। जिस बँगले में वह रहती थीं उसके अलावा

एक और बँगला उनके पास था जो उन दिनों आधा खाली था और निरालाजी के वहीं ठहरने की व्यवस्था की गई। वह बँगला होमवतीजी के आवास से सटा हुआ होकर भी अलग था, इसलिए सभी आश्वस्त थे कि अतिथि अथवा आतिथे, को कोई असुविधा नहीं होगी- यों थोड़ी चिंता भी थी कि होमवतीजी के परम वैष्णव संस्कार निरालाजी की आदतों को कैसे सँभाल पाएँगे। मेरा घर वहाँ से तीन-एक फर्लांग दूर था और छोटा भी था, सुमन, प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल को मेरे यहाँ ठहराने का निश्चय हुआ था।

होमवतीजी ने श्रद्धापूर्वक निरालाजी को ठहरा तो लिया, लेकिन दोपहर का भोजन उन्हें कराने के बाद वह दौड़ी हुई मेरे यहाँ आयीं। 'भाई जी, शाम का भोजन क्या होगा ? लोग तो कह रहे हैं कि निरालाजी तो शाम को शराब के बिना भोजन नहीं करते और भोजन भी माँस के बिना नहीं करते। हमारे यहाँ तो यह सब नहीं चल सकता और फिर अगर हम उधर अलग इंतजाम करें भी तो लाएगा कौन और सँभालेगा कौन ?'

यह कठिनाई होने वाली है इसका हमें अनुमान तो था, लेकिन होमवतीजी के उत्साह और उनकी स्नेहभरी आदेशना के सामने कोई बोला नहीं था।

उन्हें तो किसी तरह समझा-बुझाकर लौटा दिया गया कि हम लोग कुछ व्यवस्था कर लेंगे, उन्हें इसमें नहीं पड़ना होगा। संयोजकों में शराब से परिचित कोई न हो ऐसा तो नहीं था। शाम को एक अद्धा निरालाजी की सेवा में पहुँचा दिया गया और निश्चय हुआ कि भोजन कराने भी उन्हें सदर के होटल में ले जाया जाएगा।

इधर हम लोग शाम का भोजन करने बैठे ही थे कि होटल से लौटते हुए निरालाजी मेरे यहाँ आ गए। (मैं दूसरी मंजिल पर रहता था।) पता लगा कि उन्होंने ही सीधे बँगले पर न लौटकर मेरे यहाँ आने की इच्छा प्रकट की थी। सुरूर की जिस हालत में वह थे उससे मैंने यह अनुमान किया कि ऐसा निरालाजी ने इसीलिए किया होगा कि वह उस हालत में होमवतीजी के सामने नहीं पड़ना चाहते थे। (मैंने दूसरे अवसरों पर भी लक्ष्य किया कि ऐसे मामलों में उनका शिष्ट आचरण का संस्कार बड़ा प्रबल रहता था।) लेकिन यहाँ पर भी मेरी बहिन अतिथियों को भोजन करा रही थीं, इससे निरालाजी को थोड़ा असमंजस हुआ। वह चुपचाप एक तरफ एक खाट पर बैठ गए। हम लोगों ने भोजन जल्दी समाप्त करके उनका मन बहलाने की कोशिश की, लेकिन वह चुप ही रहे। एक-आध बार 'हूँ' से अधिक कुछ बोले नहीं। उनसे जो बात करता

उसकी ओर एकटक देखते रहते मानो कहना चाहते हों, 'हम जानते हैं कि हमें बहलाने की कोशिश की जा रही है, लेकिन हम बहलेंगे नहीं।'

एकाएक निरालाजी ने कहा, 'सुमन, इधर आओ।' सुमनजी उनके समीप गए तो निराला ने उनकी कलाई पकड़ ली और कहा, ''चलो।''

''कहाँ, निरालाजी ?''

'घूमने।' सुमन ने बेबसी से मेरी ओर देखा। वह भी जानते थे कि छुटकारा नहीं है और मैं भी समझ गया कि बहस व्यर्थ होगी। नीचे उतरकर मैं एक बढिया-सा ताँगा बुला लाया। निरालाजी सुमन के साथ उतरे और उस पर आगे सवार होने लगे तो ताँगेवाले ने टोकते हुए कहा, 'सरकार, घोड़ा दब जाएगा-आप पीछे बैठें और आपके साथी आगे बैठ जाएँगे।'

निरालाजी क्षण ही भर ठिठके। फिर अगली तरफ ही सवार होते हुए बोले, 'ये पीछे बैठेंगे, ताँगा दबाऊ होता है तो तुम भी पीछे बैठकर चलाओ। नहीं तो रास हमें दो-हम चलाएँगे।'

ताँगेवाले ने एक बार सबकी ओर देखकर हुक्म मानना ही ठीक समझा। वह भी पीछे बैठ गया, रास उसने नहीं छोड़ी। पूछा, 'कहाँ चलना होगा, सरकार?'

निरालाजी ने उसी आज्ञापना भरे स्वर में कहा, 'देखो, दो घंटे तक यह सवाल हमसे मत पूछना। जहाँ तुम चाहो लेते चलो। अच्छी सड़कों पर सैर करेंगे। दो घंटे बाद इसी जगह पहुँचा देना, पैसे पूरे मिलेंगे।'

ताँगेवाले ने कहा, 'सरकार' और ताँगा चल पड़ा। मैं दो घंटे के लिए निश्चिंत होकर ऊपर चला आया।

रात के लगभग बारह बजे ताँगा लौटा और सुमन अकेले ऊपर आए। निरालाजी देर से लौटने पर वहीं सो सकते हैं, यह सोचकर उनके लिए एक बिस्तर और लगा दिया गया था, लेकिन सुमन ने बताया कि निरालाजी सोएँगे तो वहीं जहाँ ठहरे हैं क्योंकि होमवतीजी से कहकर नहीं आए थे। लिहाजा मैंने उसी ताँगे में उन्हें बँगले पर पहुँचा दिया और टहलता हुआ पैदल लौट आया।

अगले दिन सवेरे ही होमवतीजी के यहाँ देखने गया कि सब कुछ ठीक-ठाक तो है, तो होमवतीजी ने अलग ले जाकर मुझे कहा, 'भैया, तुम्हारे कविजी ने कल शाम को बाहर जो किया हो, यहाँ तो बड़े शांत भाव से, शिष्ट ढंग से रहते हैं।'

मैंने कहा, 'चलिए, आप निश्चिंत हुईं तो हम भी निश्चिंत हुए। यों डरने की कोई बात थी नहीं।'

दूसरे दिन मैं शाम से ही निरालाजी को अपने यहाँ ले आया। भोजन उन्होंने वहीं किया और प्रसन्न होकर कई कविताएँ सुनायीं। काश कि उन दिनों टेप रिकार्डर होते–श्राम की शक्तिपूजा' अथवा 'जागो फिर एक बार' अथवा 'बादल राग' के वे वाचन परवर्ती पीढियों के लिए संचित कर दिए गए होते। प्राचीन काल में काव्य–वाचक जैसे भी रहे हों, मेरे युग में तो निराला जैसा काव्य–वाचक दूसरा नहीं हुआ।

रघुवीर सहाय ने लिखा है, 'मेरे मन में पानी के कई संस्मरण हैं।' निराला के काव्य को अजस्र निर्झर मानकर मैं भी कह सकता हूँ कि 'मेरे मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं– अजस्र बहते पानी के, फिर वह बहना चाहे मूसलाधार वृष्टि का हो, चाहे धुआँधार जल–प्रपात का, चाहे पहाड़ी नदी का, क्योंकि निराला जब कविता पढ़ते थे तब वह ऐसी ही वेगवती धारा–सी बहती थी। किसी रोक की कल्पना भी तब नहीं की जा सकती थी– सरोवर–सा ठहराव उनके वाचन में अकल्पनीय था' और क्योंकि पानी के अनेक संस्मरण हैं, इसलिए उन्हें दोहराऊँगा नहीं।

उन्हीं दिनों के आसपास उनसे और भी कई बार मिलना हुआ, दिल्ली में वह मेरे यहाँ आए थे और दिल्ली में एकाधिक बार उन्होंने मेरे अनुरोध किये बिना ही सहज उदारतावश अपनी नई कविताएँ सुनाईं। फिर इलाहाबाद में भी जब–तब मिलना होता, पर कविता सुनने का ढंग का अवसर केवल एक बार हुआ क्योंकि इलाहाबाद में धीरे–धीरे एक अवसाद उन पर छाता गया था जो उन्हें अपने परिचितों के बीच रहते भी उनसे अलग करता जा रहा था। पहले भी उन्होंने गाया था –

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरी दिवस की सांध्य वेला।
... ..।
जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ
हँस रहा यह देखे

कोई नहीं भेला।
अथवा
स्नेह निर्झर बह गया है
रेत-सा तन रह गया है
... ..।
बह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित रहूँ, यह
कवि कह गया है।

लेकिन इन कविताओं के अकेलेपन अथवा अवसाद का स्वर एकसंचारी भाव का प्रतिबिंब है जिससे दूसरे भी कवि परिचित होंगे। इसके अनेक वर्ष बाद के,

बाँधो न नाव इस ठाँव, बंधु
पूछेगा सारा गाँव, बंधु!

का अवसाद मानो एक स्था,ी मनोभाव है। पहले का स्वर केवल एक तात्कालिक अवस्था को प्रकट करता है जैसे और भी पहले की 'सखि वसंत आया' अथवा 'सुमन भर न लिए, सखि वसंत गया' आदि कविताएँ प्रतिक्रिया अथवा भावदशा को दर्शाती है। लेकिन 'अर्चना' और उसके बाद की कविताओं में हताश अवसाद का जो भाव छाया हुआ दीखता है वह तत्कालीन प्रतिक्रिया का नहीं, जीवन के दीर्घ प्रत्यवलोकन का परिणाम है जिससे निराला जब-तब उबरते दीखते हैं तो अपने भक्ति-गीतों में ही –

तुम ही हुए रखवाल
तो उसका कौन न होगा।
अथवा
वे दु:ख के दिन
काटे हैं जिसने
गिन-गिनकर
पल-छिन, तिन-तिन
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशि मुख

दु:खनिशा में
उज्ज्वल, अमलिन।

कह नहीं सकता, इस स्थायी भाव के विकास में कहाँ तक महादेवीजी द्वारा स्थापित साहित्यकार संसद के उनके प्रवास ने योग दिया जिसमें निराला के सम्मान में दावतें भी हुईं तो मानो ऐसी ही जो उन्हें हिंदी कवि-समाज के निकट न लाकर उससे थोड़ा और अलग ही कर गईं। संसद के गंगा तटवर्ती बँगले को छोड़कर ही निरालाजी फिर दारागंज की अपनी पुरानी कोठरी में चले गए, वहीं अवसाद और भक्ति का यह मिश्र स्वर मुखरतर होता गया और वहीं गहरे धुँधलके और तीखे प्रकाश के बीच भँवराते हुए निराला उस स्थिति की ओर बढ़ते गए जहाँ एक ओर वह कह सकते थे, 'कौन निराला ? निराला इज डेड!' और दूसरी ओर दृढ़ विश्वासपूर्वक 'हिंदी के सुमनों के प्रति' सम्बोधित होकर एक आहत किंतु अखंड आत्मविश्वास के साथ यह भी कह सकते थे, ''मैं ही वसंत का अग्रदूत''। सचमुच वसंत पंचमी के दिन जन्म लेनेवाले निराला हिंदी काव्य के वसंत के अग्रदूत थे। लेकिन अब जब वह नहीं हैं तो उनकी कविताएँ बार-बार पढ़ते हुए मेरा मन उनकी इस आत्मविश्वास भरी उक्ति पर न अटककर उनके 'तुलसीदास' की कुछ पंक्तियों पर ही अटकता है जहाँ मानो उनका कवि भवितव्यदर्शी हो उठता है- उस भवितव्य को देख लेता है जो खंडकाव्य के नायक तुलसीदास का नहीं, उसके रचयिता निराला का ही है –

यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुक्त होएँगी
... ..।
तम के अमाज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बहार रे जागो,
इस पर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान-
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।

इस अशेष छविधर कवि ने दान कभी नहीं माँगा, पर विश्व को दिया-गीत दिया, पर उसके लिए भी रुका नहीं, बाँटते-बाँटते ही तिरोधान हो गया–मैं अलक्षित रहूँ, यह कवि कह गया है।

2

अनामिका: सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक दूसरे का
अतिशय सुख के सागर में बहें।
मुदें पलक, केवल देखें उर में, -
सुनें सब कथा परिमल-सुर में,
जो चाहें, कहें वे, कहें।
वहाँ एक दृष्टि से अशेष प्रणय
देख रहा है जग को निर्भय,
दोनों उसकी दृढ़ लहरें सहें।

1. प्रेयसी
घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ।
दृगों को रँग गयी प्रथम प्रणय-रश्मि-
चूर्ण हो विच्छुरित

विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों पत्र पर कनक-प्रभात के,
किरण-सम्पात से।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मंजु-मुख
गुंज-मृदु अलि-पुंज
मुखर उर मौन वा स्तुति-गीत में हरे।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक-
भरते अन्तर पुलकराशि से बार-बार
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी,
कम्पित प्रतनु-भार,
विस्तृत दिगन्त के पार प्रिय बद्ध-दृष्टि
निश्चल अरूप में।
हुआ रूप-दर्शन
जब कृतविद्य तुम मिले
विद्या को दृगों से,
मिला लावण्य ज्यों मूर्ति को मोहकर, -
शेफालिका को शुभ हीरक-सुमन-हार, -
शृंगार
शुचिदृष्टि मूक रस-सृष्टि को।
याद है, उषःकाल, -
प्रथम-किरण-कम्प प्राची के दृगों में,
प्रथम पुलक फुल्ल चुम्बित वसन्त की
मंजरित लता पर,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर
प्रणय-मिलन-गान,
प्रथम विकच कलि वृन्त पर नग्न-तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपती,
करती विहार

उपवन में मैं, छिन्न-हार
मुक्ता-सी निःसंग,
बहु रूप-रंग वे देखती, सोचती,
मिले तुम एकाएक,
देख मैं रुक गयी–
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समाष्टि में खिंच स्तब्ध मन हुआ।
दिये नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये !
दूर थी,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई।
अपनी ही दृष्टि मेंय
जो था समीप विश्व,
दूर दूरतर दिखा।
मिली ज्योति छबि से तुम्हारी
ज्योति-छबि मेरी,
नीलिमा ज्यों शून्य से,
बँधकर मैं रह गयी,
डूब गये प्राणों में
पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु-हार
कूजन-मधुर चल विश्व के दृश्य सब, -
सुन्दर गगन के भी रूप दर्शन सकल-
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा,
सन्देशवाहक बलाहक विदेश के।
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गयी !
बँधी हुई तुमसे ही
देखने लगी मैं फिर-
फिर प्रथम पृथ्वी को,
भाव बदला हुआ-

पहले ही घन-घटा वर्षण बनी हुई,
कैसा निरंजन यह अंजन आ लग गया !
देखती हुई सहज
हो गयी मैं जड़ीभूत,
जगा देहज्ञान,
फिर याद गेह की हुई,
लज्जित
उठे चरण दूसरी ओर को
विमुख अपने से हुई !
चली चुपचाप,
मूक सन्ताप हृदय में,
पृथुल प्रणय-भार।
देखते निमेशहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्गसुख पाने के अर्थ, प्रिय,
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ।
कैसी निरलस दृष्टि !
सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यों प्रात में
देखता है एकटक किरण-कुमारी को।-
पृथ्वी का प्यार, सर्वस्व उपहार देता
नभ की निरुपमा को,
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द-
भावों में विशृंखल बहता हुआ भी स्थिर।
देकर न दिया ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गयी,
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के-
उनकी ही मैं हुई !
समझ नहीं सकी, हाय,
बँधा सत्य अंचल से

खुलकर कहाँ गिरा।
बीता कुछ काल,
देह-ज्वाला बढ़ने लगी,
नन्दन निकुंज की रति को ज्यों मिला मरु,
उतरकर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई, सलिल-देह कलुषित हुआ।
करुणा को अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किन्तु अरुणार्क, प्रिय, झुलसाते ही रहे-
भर नहीं सके प्राण रूप-विन्दु-दान से।
तब तुम लघुपद-विहार
अनिल ज्यों बार-बार
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे
साँसों से, भावों से, चिन्ता से कर प्रवेश।
अपने उस गीत पर
सुखद मनोहर उस तान का माया में,
लहरों में हृदय की
भूल-सी मैं गयी
संसृति के दु:ख-घात,
'लथ-गात, तुममें ज्यों
रही मैं बद्ध हो।
किन्तु हाय,
रूढ़ि, धर्म के विचार,
कुल, मान, शील, ज्ञान,
उच्च प्राचीर ज्यों घेरे जो थे मुझे,
घेर लेते बार-बार,
जब मैं संसार में रखती थी पदमात्र,
छोड़ कल्प-निस्सीम पवन-विहार मुक्त।
दोनों हम भिन्न-वर्ण,
भिन्न-जाति, भिन्न-रूप,
भिन्न-धर्मभाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।

किन्तु दिन रात का,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है
समझे यह नहीं लोग
व्यर्थ अभिमान के !
अन्धकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त।
गृह-जन थे कर्म पर।
मधुर प्रात ज्यों द्वार पर आये तुम,
नीड़-सुख छोड़कर मुझे मुक्त उड़ने को संग
किया आह्वान मुझे व्यंग के शब्द में।
आयी मैं द्वार पर सुन प्रिय कण्ठ-स्वर,
अश्रुत जो बजता रहा था झंकार भर
जीवन की वीणा में,
सुनती थी मैं जिसे।
पहचाना मैंने, हाथ बढ़ाकर तुमने गहा।
चल दी मैं मुक्त, साथ।
एक बार की ऋणी
उद्धार के लिए,
शत बार शोध की उर में प्रतिज्ञा की।
पूर्ण मैं कर चुकी।
गर्वित, गरीयसी अपने में आज मैं।
रूप के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही,
गह बाँह, बाँह में भरकर सँभाला तुम्हें।

2. मित्र के प्रति

(1)

कहते हो, ''नीरस यह
बन्द करो गान-

कहाँ छन्द, कहाँ भाव,
कहाँ यहाँ प्राण ?
था सर प्राचीन सरस,
सारस-हँसों से हँसय
वारिज-वारिज में बस
रहा विवश प्यारय
जल-तरंग ध्वनिय कलकल
बजा तट-मृदंग सदलय
पैंगें भर पवन कुशल
गाती मल्लार।''
(2)
सत्य, बन्धु सत्यय वहाँ
नहीं अर्र-बर्रय
नहीं वहाँ भेक, वहाँ
नहीं टर्र-टर्र।
एक यहीं आठ पहर
बही पवन हहर-हहर,
तपा तपन, ठहर-ठहर
सजल कण उड़ेय
गये सूख भरे ताल,
हुए रूख हरे शाल,
हाय रे, मयूर-व्याल
पूँछ से जुड़े!
(3)
देखे कुछ इसी समय
दृश्य और-और
इसी ज्वाल से लहरे
हरे ठौर-ठौर ?
नूतन पल्लव-दल, कलि,
मँडलाते व्याकुल अलि
तनु-तन पर जाते बलि

बार-बार हार,
बही जो सुवास मन्द
मधुर भार-भरण-छन्द
मिली नहीं तुम्हें, बन्द
रहे, बन्धु, द्वार?
(4)
इसी समय झुकी आम्र-
शाखा फल-भार
मिली नहीं क्या जब यह
देखा संसार?
उसके भीतर जो स्तव,
सुना नहीं कोई रव?
हाय दैव, दव-ही-दव
बन्धु को मिला!
कुहरित भी पंचम स्वर,
रहे बन्द कर्ण-कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला!
(5)
सोचो तो, क्या थी वह
भावना पवित्र,
बँधा जहाँ भेद भूल
मित्र से अमित्र।
तुम्हीं एक रहे मोड़
मुख, प्रिय, प्रिय मित्र छोड़,
कहो, कहो, कहाँ होड़
जहाँ जोड़, प्यार?
इसी रूप में रह स्थिर,
इसी भाव में घिर-घिर,
करोगे अपार तिमिर-
सागर को पार?

(6)
बही बन्धु, वायु प्रबल
जो, न बँध सकी,
देखते थके तुम, बहती
न वह न थकी।
समझो वह प्रथम वर्ष,
रुका नहीं मुक्त हर्ष,
यौवन दुर्धर्ष कर्ष-
मर्ष से लड़ाय
ऊपर मध्याह्न तपन
तपा किया, सन-सन-सन
हिला-झुका तरु अगणन
बही वह हवा।
(7)
उड़ा दी गयी जो, वह भी
गयी उड़ा,
जली हुई आग कहो,
कब गयी जुड़ा?
जो थे प्राचीन पत्र
जीर्ण-शीर्ण नहीं छत्र,
झड़े हुए यत्र-तत्र
पड़े हुए थे,
उन्हीं से अपार प्यार
बँधा हुआ था असार,
मिला दुःख निराधार
तुम्हें इसलिए।
(8)
बही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय,
वही किया की फिर-फिर
हवा 'हाय-हाय'।

कमरे में, मध्य याम,
करते तब तुम विराम,
रचते अथवा ललाम
गतालोक लोक,
वह भ्रम मरुपथ पर की
यहाँ-वहाँ व्यस्त फिरी,
जला शोक-चिह्न, दिया
रँग विटप अशोक।

(9)

करती विश्राम, कहीं
नहीं मिला स्थान,
अन्ध-प्रगति बन्ध किया
सिन्धु को प्रयाण,
उठा उच्च ऊर्मि-भंग-
सहसा शत-शत तरंग,
क्षुब्ध, लुब्ध, नील-अंग-
अवगाहन-स्नान,
किया वहाँ भी दुर्दम
देख तरी विघ्न विषम,
उलट दिया अर्थागम
बनकर तूफान।

(10)

हुई आज शान्त, प्राप्त
कर प्रशान्त-वक्ष,
नहीं त्रास, अतः मित्र,
नहीं 'रक्ष, 'रक्ष'।
उड़े हुए थे जो कण,
उतरे पा शुभ वर्षण,
शुक्ति के हृदय से बन
मुक्ता झलके,
लखो, दिया है पहना

किसने यह हार बना
भारति-उर में अपना,
देख दृग थके!

3. सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति
वीक्षण अगल–
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य-चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल,
सम्राट! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल!
विंशति शताब्दि,
धन के, मान के बाँध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन-
साहित्यिक स्वर-
'जो करे गन्ध-मधु का वर्जन
वह नहीं भ्रमर,
मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर'
था सुना, रहे सम्राट! अमर–
मानव के घर!
वैभव विशाल,
साम्राज्य सप्त-सागर-तरंग-दल-दत्त-माल,
है सूर्य क्षत्र
मस्तक पर सदा विराजित

ले कर-आतपत्र,
विच्छुरित छटा–
जल, स्थल, नभ में
विजयिनी वाहिनी-विपुल घटा,
क्षण-क्षण भर पर
बदलती इन्द्रधनु इस दिशि से
उस दिशि सत्वर,
वह महासद्म
लक्ष्मी का शत-मणि-लाल-जटिल
ज्यों रक्त पद्म,
बैठे उस पर,
नरेन्द्र-वन्दित, ज्यों देवेश्वर।
पर रह न सके,
हे मुक्त,
बन्ध का सुखद भार भी सह न सके।
उर की पुकार
जो नव संस्कृति की सुनी
विशद, मार्जित, उदार,
था मिला दिया उससे पहले ही
अपना उर,
इसलिये खिंचे फिर नहीं कभी,
पाया निज पुर
जन-जन के जीवन में सहास,
है नहीं जहाँ वैशिष्टय-धर्म का
–विलास–
भेदों का क्रम,
मानव हो जहाँ पड़ा–
चढ़ जहाँ बड़ा सम्भ्रम।
सिंहासन तज उतरे भूपर,
सम्राट! दिखाया
सत्य कौन-सा वह सुन्दर।

जो प्रिया, प्रिया वह
रही सदा ही अनामिका,
तुम नहीं मिले, –
तुमसे हैं मिले हुए नव
योरप-अमेरिका।
सौरभ प्रमुक्त!
प्रेयसी के हृदय से हो तुम
प्रतिदेशयुक्त,
प्रतिजन, प्रतिमन,
आलिंगित तुमसे हुई
सभ्यता यह नूतन!

4. दान

वासन्ती की गोद में तरुण,
सोहता स्वस्थ-मुख बालारुण,
चुम्बित, सस्मित, कुंचित, कोमल
तरुणियों सदृश किरणें चंचल,
किसलयों के अधर यौवन-मद
रक्ताभय मज्जु उड़ते षट्पद।
खुलती कलियों से कलियों पर
नव आशा–नवल स्पन्द भर भर,
व्यंजित सुख का जो मधु-गुंजन
वह पुंजीकृत वन-वन उपवन,
हेम-हार पहने अमलतास,
हँसता रक्ताम्बर वर पलास,
कुन्द के शेष पूजार्ध्यदान,
मल्लिका प्रथम-यौवन-शयान,
खुलते-स्तबकों की लज्जाकु,
नतवदना मधुमाधवी अतुल,
निकला पहला अरविन्द आज,
देखता अनिन्द्य रहस्य-साजय
सौरभ-वसना समीर बहती,

कानों में प्राणों की कहती,
गोमती क्षीण-कटि नटी नवल,
नृत्यपर मधुर-आवेश-चपल।
मैं प्रातः पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ,
सोचा–'विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया,
सोचने को न कुछ रहा नयाय
सौन्दर्य, गीत, बहु वर्ण, गन्ध,
भाषा, भावों के छन्द-बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सब में है श्रेष्ठ, धन्य, मानव।'
फिर देखा, उस पुल के ऊपर
बहु संख्यक बैठे हैं वानर।
एक ओर पथ के, कृष्णकाय
कंकालशेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल,
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास।
ढोता जो वह, कौन-सा शाप?
भोगता कठिन, कौन-सा पाप?
यह प्रश्न सदा ही है पथ पर,
पर सदा मौन इसका उत्तर!
जो बड़ी दया का उदाहरण,
वह पैसा एक, उपायकरण!
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा–

विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल, तिल,
लेकर झोली आये ऊपर,
देखकर चले तत्पर वानर।
द्विज राम-भक्त, भक्ति की आश
भजते शिव को बारहों मास,
कर रामायण का पारायण
जपते हैं श्रीमन्नारायण,
दु:ख पाते जब होते अनाथ,
कहते कपियों से जोड़ हाथ,
मेरे पड़ोस के वे सज्जन,
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन,
झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये,
देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं-'धन्य श्रेष्ठ मानव!'

5. प्रलाप

वीणानिन्दित वाणी बोल!
संशय-अन्धकामय पथ पर भूला प्रियतम तेरा-
सुधाकर-विमल धवल मुख खोल!
प्रिये, आकाश प्रकाशित करके,
शुष्ककण्ठ कण्टकमय पथ पर
छिड़क ज्योत्स्ना घट अपना भर भरके!
शुष्क हूँ-नीरस हूँ-उच्छ्रृखल-
और क्या क्या हूँ, क्या मैं दूँ अब इसका पता,
बता तो सही किन्तु वह कौन घेरनेवाली
बाहु-बल्लियों से मुझको है एक कल्पना-लता!
अगर वह तू है तो आ चली
विहगगण के इस कल कूजन में-

लता-कुंज में मधुप-पुंज के 'गुनगुनगुन' गुंजन में,
क्या सुख है यह कौन कहे सखि,
निर्जन में इस नीरव मुख-चुम्बन में!
अगर बतायेगी तू पागल मुझको
तो उन्मादिनी कहूँगा मैं भी तुझको
अगर कहेगी तू मुझको 'यह है मतवाला निरा'
तो तुझे बताऊँगा मैं भी लावण्य-माधुरी-मदिरा।
अगर कभी देगी तू मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव दे पद दो चार!
शान्ति-सरल मन की तू कोमल कान्ति–
यहाँ अब आ जा,
प्याला-रस कोई हो भर कर
अपने ही हाथों से तू मुझे पिला जा,
नस-नस में आनन्द-सिन्धु के धारा प्रिये, बहा जाय,
ढीले हो जायें ये सारे बन्धन,
होये सहज चेतना लुप्त, –
भूल जाऊँ अपने को, कर के मुझे अचेतन।
भूलूँ मैं कविता के छन्द,
अगर कहीं से आये सुर-संगीत–
अगर बजाये तू ही बैठ बगल में कोई तार
तो कानों तक आते ही रुक जाये उनकी झंकारय
भूलूँ मैं अपने मन को भी
तुझको-अपने प्रियजन को भी!
हँसती हुई, दशा पर मेरी प्रिय अपना मुख मोड़,
जायेगी ज्यों-का-त्यों मुझको यहाँ अकेला छोड़!
इतना तो कह दे–सुख या दुःख भर लेगी
जब इस नद से कभी नई नय्या अपनी खेयेगी?

6. खँडहर के प्रति

खँड़हर! खड़े हो तुम आज भी?
अदभुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज!
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें–

करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए?
पवन-संचरण के साथ ही
परिमल-पराग-सम अतीत की विभूति-रज-
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में,
क्या है, उद्देश तव?
बन्धन-विहीन भव!
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के?
अथवा,
हो मलते कलेजा पड़े, जरा-जीर्ण,
निर्निमेष नयनों से
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की
अपनी संतानों से बूँद भर पानी को तरसते हुए?
किम्बा, हे यशोराशि!
कहते हो आँसू बहाते हुए–
'आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतंजलि-व्यास ऋषियों का,
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कष्ण-भीमार्जुन-भीष्म-नरदेवों ने।
तुमने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल,
हो बसे नव छाया में,
नव स्वप्न ले जगे,
भूले वे मुक्त प्राण, साम-गान, सुधा-पान।'
बरसो आसीस, हे पुरुष-पुराण,
तव चरणों में प्रणाम है।

7. प्रेम के प्रति
चिर-समाधि में अचिर-प्रकृति जब,
तुम अनादि तब केवल तम,
अपने ही सुख-इंगित से फिर

हुए तरंगित सृष्टि विषम।
तत्वों में त्वक बदल बदल कर
वारि, वाष्प ज्यों, फिर बादल,
विद्युत की माया उर में, तुम
उतरे जग में मिथ्या-फल।
वसन वासनाओं के रँग-रँग
पहन सृष्टि ने ललचाया,
बाँध बाहुओं में रूपों ने
समझा-अब पाया-पाया,
किन्तु हाय, वह हुई लीन जब
क्षीण बुद्धि-भ्रम में काया,
समझे दोनों, था न कभी वह
प्रेम, प्रेम की थी छाया।
प्रेम, सदा ही तुम असूत्र हो
उर-उर के हीरों के हार,
गूँथे हुए प्राणियों को भी
गुँथे न कभी, सदा ही सार।

8. वीणावादिनी

तव भक्त भ्रमरों को हृदय में लिए वह शतदल विमल
आनन्द-पुलकित लोटता नव चूम कोमल चरणतल।
बह रही है सरस तान-तरंगिनी,
बज रही है वीणा तुम्हारी संगिनी,
अयि मधुरवादिनि, सदा तुम रागिनी-अनुरागिनी,
भर अमृत-धारा आज कर दो प्रेम-विह्वल हृदयदल,
आनन्द-पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरणतल!
स्वर हिलोरं ले रहा आकाश में,
काँपती है वायु स्वर-उच्छ्वास में,
ताल-मात्राएँ दिखातीं भंग, नव रति रंग भी
मूर्च्छित हुए से मूर्च्छना करती उठाकर प्रेम-छल,
आनन्द-पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरणतल!

9. प्रगल्भ प्रेम

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्धविकव इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बन्धनमय छ्न्दों की छोटी राह!
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कण्टकाकीर्ण,
कैसे होगी उससे पार?
काँटों में अंचल के तेरे तार निकल जायेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार
मैंने अभी अभी पहनाया
किन्तु नजर भर देख न पाया-कैसा सुन्दर आया।
मेरे जीवन की तू प्रिये, साधना,
प्रस्तरमय जग में निर्झर बन
उतरी रसाराधना!
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार पर आ तू
धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ा कर,
ज्योत्स्नाकुल सुमनों की सुरा पिला तू
प्याला शुभ्र करों का रख अधरो पर!
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनन्द प्रवाह,
सकल चेतना मेरी होये लुप्त
और जग जाये पहली चाह!
लखूँ तुझे ही चकित चतुर्दिक,
अपनापन मैं भूलूँ,
पड़ा पालने पर मैं सुख से लता-अंक के झूलूँ,
केवल अन्तस्तल में मेरे, सुख की स्मृति की अनुपम
धारा एक बहेगी,
मुझे देखती तू कितनी अस्फुट बातें मन-ही-मन
सोचेगी, न कहेगी!
एक लहर आ मेरे उर में मधुर कराघातों से
देगी खोल हृदय का तेरा चिरपरिचित वह द्वार,
कोमल चरण बढ़ा अपने सिंहासन पर बैठेगी,

फिर अपनी उर की वीणा के उतरे ढीले तार
कोमल-कली उँगुलियों से कर सज्जित,
प्रिये, बजायेगी, होंगी सुरललनाएँ भी लज्जित!
इमन-रागिनी की वह मधुर तरंग
मीठी थपकी मार करेगी मेरी निद्रा भंग,
जागूँगा जब, सम में समा जायगी तेरी तान,
व्याकुल होंगे प्राण,
सुप्त स्वरों के छाये सन्नाटे में
गूँजेगा यह भाव,
मौन छोड़ता हुआ हृदय पर विरह-व्यथित प्रभाव–
'क्या जाने वह कैसी थी आनन्द-सुरा
अधरों तक आकर
बिना मिटाये प्यास गई जो सूख जलाकर अन्तर!'

10. यहीं
मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान
लेती हिलोरें थी समुद्र की तरंग सी, –
उत्फुल्ल हर्ष से प्लावित कर जाती तट।
वीणा की झंकृति में स्मृति की पुरातन कथा
जग जाती हृदय में, –बादलों के अंग में
मिली हुई रश्मि ज्यों
नृत्य करती आँखों की
अपराजिता-सी श्याम कोमल पुतलियों में,
नूपुरों की झनकार
करती शिराओं में संचरित और गति
ताल-मूर्च्छनाओं सधी।
अधरों के प्रान्तरों प्र खेलती रेखाएँ
सरस तरंग-भंग लेती हुई हास्य की।
बंकिम-वल्लरियों को बढ़ाकर
मिलनकय चुम्बन की कितनी वे प्रार्थनाएँ
बढ़ती थीं सुन्दर के समाराध्य मुख की ओर

तृप्तिहीन तृष्णा से।
कितने उन नयनों ने
प्रेम पुलकित होकर
दिये थे दान यहाँ
मुक्त हो मान से!
कच्ष्णाधन अलकों में
कितने प्रेमियों का यहाँ पुलक समाया था!
आभा में पूर्ण, वे बड़ी बड़ी आँखें,
पल्लवों की छाया में
बैठी रहती थीं मूर्ति निर्भरता की बनी।
कितनी वे रातें
स्नेह की बातें
रक्खे निज हृदय में
आज भी हैं मौन यहाँ–
लीन निज ध्यान में।
यमुना की कल ध्वनि
आज भी सुनाती है विगत सुहाग-गाथा,
तट को बहा कर वह
प्रेम की प्लावित
करने की शक्ति कहती है।

11. क्या गाऊँ

क्या गाऊँ? माँ! क्या गाऊँ?
गूँज रहीं हैं जहाँ राग-रागिनियाँ,
गाती हैं किन्नरियाँ कितनी परियाँ
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री-क्षीण, नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ?–
माँ! क्या गाऊँ?
छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग!
चढते हैं चरणों पर कितने फूल

मृदु-दल, सरस-पराग,
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर!
वहाँ एक निर्गन्ध कुसुम उपहार,
नहीं कहीं जिसमें पराग-संचार सुरभि-संसार
कैसे भला चढ़ाऊँ?–
माँ? क्या गाऊँ?

12. प्रिया से

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये कल्पना-ज़तिका,
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय है तू कमल-कामिनी,
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार की कोमल-चरणगामिनी,
नूपुर मधुर बज रहे तेरे,
सब शृंगार सज रहे तेरे,
अलक-सुगन्ध मन्द मलयानिल धीरे-धीरे ढोती,
पथश्रान्त तू सुप्त कान्त की स्षति में चलकर सोती
कितने वर्णों में, कितने चरणों में तू उठ खड़ी हुई,
कितने बन्दों में, कितने छन्दों में तेरी लड़ी गई,
कितने ग्रन्थों में, कितने पन्थों में, देखा, पढ़ी गई,
तेरी अनुपम गाथा,
मैंने बन में अपने मन में
जिसे कभी गाया था।
मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार!
तेरे सहज रूप से रँग कर,
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार!

13. सच है

यह सच है–

तुमने जो दिया दान दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है–
यह सच है!
बार-बार हार-हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया,
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है–
यह सच है!

14. सन्तप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने भूले अम्रीयमाण।
एकाएक क्षोभ का अन्तर में होते संचार
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार,
विकल वीणा के टूटे तार!
मेरा आकुअ क्रंदन,
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर।
मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर
सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल-
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर,
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद।
ओ मेरे!–मेरे बन्धन-उन्मोचन!
ओ मेरे!–ओ मेरे क्रन्दन-वन्दन!
ओ मेरे अभिनन्दन!
ये सन्तप्त लिप्त कब होंगे गीत,
हत्तल में तव जैसे शीतल चन्दन?

15. चुम्बन

लहर रही शशिकिरण चूम निर्मल यमुनाजल,
चूम सरित की सलिल राशि खिल रहे कुमुद दल
कुमुदों के स्मिति-मन्द खुले वे अधर चूम कर,
बही वायु स्वच्छन्द, सकल पथ घूम-घूम कर
है चूम रही इस रात को वही तुम्हारे मधु अधर
जिनमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-सन्तापहर!

16. अनुताप

जहाँ हृदय में बाल्यकाल की कला कौमुदी नाच रही थी,
किरणबालिका जहाँ विजन-उपवन-कुसुमों को जाँच रही थी,
जहाँ वसन्ती-कोमल-किसलय-वलय-सुशोभित कर बढ़ते थे,
जहाँ मंजरी-जयकिरीट वनदेवी की स्तुति कवि पढ़ते थे,
जहाँ मिलन-शिंजन-मधुगुंजन युवक-युवति-जन मन हरता था,
जहाँ मृदुल पथ पथिक-जनों की हृदय खोल सेवा करता था,
आज उसी जीवन-वन में घन अन्धकार छाया रहता है,
दमन-दाह से आज, हाय, वह उपवन मुरझाया रहता है!

17. तट पर

नव वसन्त करता था वन की सैर
जब किसी क्षीण-कटि तटिनी के तट
तरुणी ने रक्खे थे अपने पैर।
नहाने को सरि वह आई थी,
साथ वसन्ती रँग की, चुनी हुई, साड़ी लाई थी।
काँप रही थी वायु, प्रीति की प्रथम रात की
नवागता, पर प्रियतम-कर-पतिता-सी
प्रेममयी, पर नीरव अपरिचिता-सी।
किरण-बालिकाएँ लहरों से
खेल रहीं थीं अपने ही मन से, पहरों से।
खड़ी दूर सारस की सुन्दर जोड़ी,
क्या जाने क्या क्या कह कर दोनों ने ग्रीवा मोड़ी।
रक्खी साड़ी शिला-खण्ड पर
ज्यों त्यागा कोई गौरव-वर।

देख चतुर्दिक, सरिता में
उतरी तिर्यग्दृग, अविचल-चित।
नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर
हँसता था एक कलाधर, –
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।
वियोग से नदी-हृदय कम्पित कर,
तट पर सजल-चरण-रेखाएँ निज अंकित कर,
केश-गार जल-सिक्त, चली वह धीरे-धीरे
शिला-खण्ड की ओर,
नव वसन्त काँपा पत्रों में,
देख दृगों की कोर।
अंग-अंग में नव यौवन उच्छृंखल,
किन्तु बँधा लावण्य-पाश से
नम्र सहास अचंचल।
झुकी हुई कल कुंचित एक झलक ललाट पर,
बढ़ी हुई ज्यों प्रिया स्नेह के खड़ी बाट पर।
वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु, मधुराधर।
तरुणी ने सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिये वे उन्नत पीन उरोज,
उठा कर शुष्क वसन का छोर।
मूर्च्छित वसन्त पत्रों पर,
तरु से वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी के चरणों पर।
(महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विजयिनी' से)

18. ज्येष्ठ

(1)

ज्येष्ठ! क्रूरता-कर्कशता के ज्येष्ठ! सृष्टि के आदि!
वर्ष के उज्जवल प्रथम प्रकाश!
अन्त! सृष्टि के जीवन के हे अन्त! विश्व के व्याधि!

चराचर दे हे निर्दय त्रास!
सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान!–अचल विश्वास!
देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमन्त्रण,
आओ जीवन-शमन, बन्धु, जीवन-धन!
(2)
घोर-जटा-पिंगल मंगलमय देव! योगि-जन-सिद्ध!
धूलि-धूसरित, सदा निष्काम!
उग्र! लपट यह लू की है या शूल-करोगे बिद्ध
उसे जो करता हो आराम!
बताओ, यह भी कोई रीति? छोड़ घर-द्वार,
जगाते हो लोगों में भीति, –तीव्र संस्कार!–
या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसाते हैं तब घन!
(3)
तेज:पुंज! तपस्या की यह ज्योति–प्रलय साकार,
उगलते आग धरा आकाशय
पड़ा चिता पर जलता मृत गत वर्ष प्रसिद्ध असार,
प्रकृति होती है देख निराश!
सुरधुनी में रोदन-ध्वनि दीन, –विकल उच्छ्वास,
दिग्वधू की पिक-वाणी क्षीण–दिगन्त उदास,
देखा जहाँ वहीं है ज्योति तुम्हारी,
सिद्ध! काँपती है यह माया सारी।
(4)
शाम हो गई, फैलाओ वह पीत गेरुआ वस्त्र,
रजोगुण का वह अनुपम राग,
कर्मयोग की विमल पताका और मोह का अस्त्र,
सत्य जीवन के फल का–त्याग।।
मृत्यु में, तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्कामय देव, निश्शेष!
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देवव्रत,
होता है संसार अत: मस्तक नत।

(महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ के 'बैशाख' से)

19. कहाँ देश है

(1)

'अभी और है कितनी दूर तुम्हारा प्यारा देश?'–
कभी पूछता हूँ तो तुम हँसती हो
प्रिय, सँभालती हुई कपोलों पर के कुंचित केश!
मुझे चढ़ाया बाँह पकड़ अपनी सुन्दर नौका पर,
फिर समझ न पाया, मधुर सुनाया कैसा वह संगीत
सहज-कमनीय-कण्ठ से गाकर!
मिलन-मुखर उस सोने के संगीत राज्य में
मैं विहार करता था, –
मेरा जीवन-श्रम हरता था,
मीठी थपकी क्षुब्ध हृदय में तान-तरंग लगाती
मुझे गोद पर ललित कल्पना की वह कभी झुलाती,
कभी जगातीय
जगकर पूछा, कहो कहाँ मैं आया?
हँसते हुए दूसरा ही गाना तब तुमने गाया!
भला बताओ क्यों केवल हँसती हो?–
क्यों गाती हो?
धीरे-धीरे किस विदेश की ओर लिये जाती हो?

(2)

झाँका खिड़की खोल तुम्हारी छोटी सी नौका पर,
व्याकुल थीं निस्सीम सिन्धु की ताल-तरंगें
गीत तुम्हारा सुनकर,
विकल हृदय यह हुआ और जब पूछा मैंने
पकड़ तुम्हारे स्त्रस्त वस्त्र का छोर,
मौन इशारा किया उठा कर उँगली तुमने
धँसते पश्चिम सान्ध्य गगन में पीत तपन की ओर।
क्या वही तुम्हारा देश
उर्मि-मुखर इस सागर के उस पार–
कनक-किरण से छाया अस्तांचल का पश्चिम द्वार?

बताओ–वही?–जहाँ सागर के उस 'मशान में
आदिकाल से लेकर प्रतिदिवसावसान में
जलती प्रखर दिवाकर की वह एक चिता है,
और उधर फिर क्या है?
झुलसाता जल तरल अनल,
गलकर गिरता सा अम्बरतल,
है प्लावित कर जग को असीम रोदन लहराता,
खड़ी दिग्वधू, नयनों में दु:ख की है गाथा,
प्रबल वायु भरती है एक अधीर श्वास,
है करता अनय प्रलय का सा भर जलोच्छ्वास,
यह चारों ओर घोर संशयमय क्या होता है?
क्यों सारा संसार आज इतना रोता है?
जहाँ हो गया इस रोदन का शेष,
क्यों सखि, क्या है वहीं तुम्हारा देश?
(महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'निरुद्देश यात्रा' से)

20. दिल्ली

क्या यह वही देश है–
भीमार्जुन आदि का कीर्ति क्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में
उज्जवल, अधीर और चिरनवीन?–
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीतकृसिंहनाद–
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की–
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति योग का?
यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र?–
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर?–

उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः-पुनः बर्बरता विजय पाती गई
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्त धारा लख
आरक्त हो सदैव।
क्या यही वह देश है–
यमुना-पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान सेः–
पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए, –
सुनते ही खड़े भय से विवर्ण जहाँ
अविश्वस्त संज्ञाहीन पतित आत्मविस्मृत नर?
बीत गये कितने काल,
क्या यह वही देश है
बदले किरीट जिसने सैकड़ों महीप-भाल?
क्या यह वही देश है
सन्ध्या की स्वर्णवर्ण किरणों में
दिग्वधू अलस हाथों से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा, –
पीती थीं वे नारियां
बैठी झरोखे में उन्नत प्रासाद के?–
बहता था स्नेह-उन्माद नस-नस में जहाँ
पृथ्वी की साधना के कमनीय अंगों में?–
ध्वनिमय ज्यों अन्धकार
दूरगत सुकुमार,
प्रणयियों की प्रिय कथा

व्याप्त करती थी जहाँ
अम्बर का अन्तराल?
आनन्द धारा बहती थी शत लहरों में
अधर में प्रान्तों से,
अतल हृदय से उठ
बाँधे युग बाहुओं के
लीन होते थे जहाँ अन्तहीनता में मधुर?–
अश्रु बह जाते थे
कामिनी के कोरों से
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों,
मिलन की तृष्णा से फूट उठते थे फिर,
रँग जाता नया राग?–
केश-सुख-भार रख मुख प्रिय-स्कन्ध पर
भाव की भाषा से
कहती सुकुमारियाँ थीं कितनी ही बातें जहाँ
रातें विरामहीन करती हुई?–
प्रिया की ग्रीवा कपोत बाहुओं ने घेर
मुग्ध हो रहे थे जहाँ प्रिय-मुख अनुरागमय?–
खिलते सरोवर के कमल परागमय
हिलते डुलते थे जहाँ
स्नेह की वायु से, प्रणय के लोक में
आलोक प्राप्त कर?
रचे गये गीत,
गये गाये जहाँ कितने राग
देश के, विदेश के!
बही धाराएँ जहाँ कितनी किरणों को चूम!
कोमल निषाद भर
उठे वे कितने स्वर!
कितने वे रातें
स्नेह की बातें रक्खे निज हृदय में
आज भी हैं मौन जहाँ!

यमुना की ध्वनि में
है गूँजती सुहाग-गाथा,
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहाँ!
आज वह 'फिरदौस'
सुनसान है पड़ा।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को, पार्श्व में,
उठता है झिल्लीरव,
बोलते हैं स्यार रात यमुना-कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अंगनाओं का,
निस्तब्ध मीनार,
मौन हैं मकबरे–
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार,
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार!

21. क्षमा-प्रार्थना

आज बह गई मेरी वह व्याकुल संगीत-हिलोर
किस दिगंत की ओर?
शिथिल हो गई वेणी मेरी,
शिथिल लाज की ग्रन्थि,
शिथिल है आज बाहु-दृढ़-बन्धन,
शिथिल हो गया है मेरा वह चुम्बन!
शिथिल सुमन-सा पड़ा सेज पर अंचल,
शिथिल हो गई है वह चितवन चंचल!
शिथिल आज है कल का कूजन–
पिक की पंचम तान,
शिथिल आज वह मेरा आदर–
मेरा वह अभिमान!
यौवन-वन-अभिसार-निशा का यह कैसा अवसान?
सुख-दु:ख की धाराओं में कल
बहने की थी अटल प्रतिज्ञाकृ

कितना दृढ़ विश्वास,
और आज कितनी दुर्बल हूँ–
लेती ठंढ़ी साँस!
प्रिय अभिनव!
मेरे अन्तर के मृदु अनुभव!
इतना तो कह दो–
मिटी तुम्हारे इस जीवन की प्यास?
और हाँ, यह भी, जीवन-नाथ!–
मेरी रजनी थी यदि तुमको प्यारी
तो प्यारा क्या होगा यह अलस प्रभात?
वर्षा, शरत, वसन्त, शिशिर, ऋतु शीत,
पार किये तुमने सुन सुनकर मेरे जो संगीत,
घोर ग्रीष्म में वैसा ही मन
लगा, सुनोगे क्या मेरे वे गीत–
कहो, जीवन-धन!
माला में ही सूख गये जो फूल
क्या न पड़ेगी उनपर, प्रियतम,
एक दृष्टि अनुकूल!
ताक रहे हो दृष्टि,
जाँच रहे हो या मन?–
क्षमा कर रहे हो अथवा तुम देव,
अपने जन के स्खलन और सब पतन?
बाँधे से तुमने जिस स्वर में तार,
उतर गये उससे ये बारम्बार!
दुर्बल मेरे प्राण
कहो भला फिर
कैसे गाते रचे तुम्हारे गान?
(महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भावों से)

22. उदबोधन

गरज-गरज घन अंधकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्ध-विहीन,

आखों में नव जीवन की तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।
बार बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झंकार
उठा तू भैरव निर्जर राग,
बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
संचरित कर नूतन अनुराग।
बहता अन्ध प्रभंजन ज्यों, यह त्यों ही स्वर-प्रवाह
मचल कर दे चंचल आकाश,
उड़ा उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह, –
तरुण तरुय भर प्रसून की प्यास।
काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश,
पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक छा जाये विश्वास।
मन्द्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।
ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय कपाट,
खोल दे कर कर-कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट,
करे दर्शन, पाये आभार।
छोड़, छोड़ दे शंकाएँ, रे निर्झर-गर्जित वीर!
उठा केवल निर्मल निर्घोष,
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर!
प्राप्त कर फिर नीरव संतोष!
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी आकाश।

23. रेखा

यौवन के तीर पर प्रथम था आया जब
श्रोत सौन्दर्य का,
वीचियों में कलरव सुख चुम्बित प्रणय का
था मधुर आकर्षणमय,
मज्जनावेदन मृदु फूटता सागर में।
वाहिनी संसृति की
आती अज्ञात दूर चरण-चिन्ह-रहित
स्मृति-रेखाएँ पारकर,
प्रीति की प्लावन-पटु,
क्षण में बहा लिया–
साथी मैं हो गया अकूल का,
भूल गया निज सीमा,
क्षण में अज्ञानता को सौंप दिये मैंने प्राण
बिना अर्थ, –प्रार्थना के।
तापहर हृदय वेग
लग्न एक ही स्मृति में,
कितना अपनाव?–
प्रेमभाव बिना भाषा का,
तान-तरल कम्पन वह बिना शब्द-अर्थ की।
उस समय हृदय में
जो कुछ वह आता था,
हृदय से चुपचाप
प्रार्थना के शब्दों में
परिचय बिना भी यदि
कोई कुछ कहता था,
अपनाता मैं उसे।
चिर-कालिक कालिमा–
जड़ता जीवन की चिर-संचित थी दूर हुई।
स्वच्छ एक दर्पण–
प्रतिबिम्बों की ग्रहण-शक्ति सम्पूर्ण लिये हुए,

देखता मैं प्रकृति चित्र, –
अपनी ही भावना की छायाएं चिर-पोषित।
प्रथम जीवन में
जीवन ही मिला मुझे, चारों ओर।
आती समीर
जैसे स्पर्श कर अंग एक अज्ञात किसी का,
सुरभि सुमन्द में हो जैसे अंगराग-गंध,
कुसुमों में चितवन अतीत की स्मृति-रेखा–
परिचित चिर-काल की,
दूर चिर-काल से,
विस्मृति से जैसे खुल आई हो कोई स्मृति
ऐसे ही प्रकृति यह
हरित निज छाया में
कहती अन्तर की कथा
रह जाती हृदय में।
बीते अनेक दिन
बहते प्रिय-वक्ष पर ऐसे ही निरुपाय
बहु-भाव-भंगों की यौवन-तरंगों में।
निरुद्देश मेरे प्राण
दूरतक फैले उस विपुल अज्ञान में
खोजते थे प्राणों को,
जड़ में ज्यों वीत-राग चेतन को खोजते।
अन्त में
मेरी ध्रुवतारा तुम
प्रसरित दिगन्त से
अन्त में लाई मुझे
सीमा में दीखी असीमता–
एक स्थिर ज्योति में
अपनी अबाधता–
परिचय निज पथ का स्थिर।
वक्ष पर धरा के जब

तिमिर का भार गुरु
पीड़ित करता है प्राण,
आते शशांक तब हृदय पर आप ही,
चुम्बन-मधु ज्योति का, अन्धकार हर लेता।
छाया के स्पर्श से
कल्पित सुख मेरा भी प्राणों से रहित था, –
कल्पना ही एक
दूर सत्य के आलोक से, –
निर्जन-प्रियता में था मौन-दुःख साथी बिना।
प्रतिमा सौन्दर्य की
हृदय के मंच पर
आई न थी तब भी,
पत्र-पुष्प-अर्ध्य ही
संचित था हो रहा
आगम-प्रतीक्षा में, –
स्वागत की वन्दना ही
सीखी थी हृदय ने।
उत्सुकता वेदना,
भीति, मौन, प्रार्थना
नयनों की नयनों से,
सिंचन सुहागकृप्रेम,
दृढ़ता चिबुक की,
अधरों की विह्वलता,
भ्रुकुटिलता, सरल हास,
वेदना कण्ठ में,
मृदुता हृदय में,
काठिन्य वक्षस्थल में,
हाथों में निपुणता,
शैथिल्य चरणों में,
दीखी नहीं तब तक
एक ही मूर्ति में

तन्मय असीमता।
सृष्टि का मध्यकाल मेरे लिये।
तृष्णा की जागृति का
मूर्त राग नयनों में।
हुताशन विश्व के शब्द-रस-रूप-गन्ध
दीपक-पतंग-से अन्ध थे आ रहे
एक आकर्षण में
और यह प्रेम था!
तृष्णा ही थी सजग
मेरे प्रतिरोम में।
रसना रस-नाम-रहित
किन्तु रस-ग्राहिका!
भोगकृवह भोग था,
शब्दों की आड़ में
शब्द-भेद प्राणों का—
घोर तम सन्ध्या की स्वर्ण-किरण-दीप्ति में!
शत-शत वे बन्धन ही
नन्दन-स्वरूप-से आ
सम्मुख खड़े थे!—
स्मितनयन, चंचल, चयनशील,
अति-अपनाव-मृदु भाव खोले हुए!
मन का जड़त्व था,
दुर्बल वह धारणा चेतन की
मूर्च्छित लिपटती थी जड़ी से बारम्बार।
सब कुछ तो था असार
अस्तु, वह प्यार?—
सब चेतन जो देखता,
स्पर्श में अनुभवकृरोमांच,
हर्ष रूप मेंकृपरिचय,
विनोदय सुख गन्ध में,
रस में मज्जनानन्द,

शब्दों में अलंकार,
खींचा उसीने था हृदय यह,
जड़ों में चेतन-गति कर्षण मिलता कहां?
पाया आधार
भार-गुरुता मिटाने को,
था जो तरंगों में बहता हुआ,
कल्पना में निरवलम्ब,
पर्यटक एक अटवी का अज्ञात,
पाया किरण-प्रभात–
पथ उज्जवल, सहर्ष गति।
केन्द्र को आ मिले
एक ही तत्व के,
सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम-बीज।
कौन फिर-फिर जाता?
बँधा हुआ पाश में ही
सोचता जो सुख-मुक्ति कल्पना के मार्ग से,
स्थित भी जो चलता है,
पार करता गिरि-शृंग, सागर-तरंग,
अगम गहन अलंध्य पथ,
लावण्यमय सजल,
खोला सहृदय स्नेह।
आज वह याद है वसन्त,
जब प्रथम दिगन्तश्री
सुरभि धरा के आकांक्षित हृदय की,
दान प्रथम हृदय को
था ग्रहण किया हृदय ने,
अज्ञात भावना,
सुख चिर-मिलन का,
हल किया प्रश्न जब सहज एकत्व का
प्राथमिक प्रकृति ने,

उसी दिन कल्पना ने
पाई सजीवता।
प्रथम कनकरेखा प्राची के भाल परकृ
प्रथम शृंगार स्मित तरुणी वधू का,
नील गगनविस्तार केश,
किरणोज्जवल नयन नत,
हेरती पृथ्वी को।

24. आवेदन

(गीत)

फिर सवाँर सितार लो!
बाँध कर फिर ठाट, अपने
अंक पर झंकार दो!
शब्द के कलि-कल खुलें,
गति-पवन-भर काँप थर-थर
मीड़-भ्रमरावलि ढुलें,
गीत-परिमल बहे निर्मल,
फिर बहार बहार हो!
स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरी, यह सरित, यह तट,
यह गगन, समुदाय।
कमल-वलयित-सरल-दृग-जल
हार का उपहार हो!

25. तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर,
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर-
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
'याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार-बार प्रहार–
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई,
प्रायः हुई दुपहर–
वह तोड़ती पत्थर।
देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार,
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा-
'मैं तोड़ती पत्थर।'

26. विनय

(गीत)

पथ पर मेरा जीवन भर दो,
बादल हे अनन्त अम्बर के!
बरस सलिल, गति ऊर्मिल कर दो!
तट हों विटप छाँह के, निर्जन,
सस्मित-कलिदल-चुम्बित-जलकण,
शीतल शीतल बहे समीरण,
कूजें द्रुम-विहंगगण, वर दो!
दूर ग्राम की कोई वामा

आये मन्दचरण अभिरामा,
उतरे जल में अवसन श्यामा,
अंकित उर-छबि सुन्दरतर हो!

27. उत्साह

(गीत)

बादल, गरजो!–
घेर-घेर घोर गगन, धाराधर जो!
ललित ललित, काले घुँघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छबि उर में, कवि, नवजीवन वाले!
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो–
बादल, गरजो!
विकल-विकल, उन्मन थे उन्मन,
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन!
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो–
बादल, गरजो!

28. वनबेला

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मंजु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे,
पिक-भ्रमर-गुंज भर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान,
सुनकर सहसा,
प्रखर से प्रखर तर हुआ तपन-यौवन सहसा,
ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शत शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार बार चुम्बित दिनकर
क्षोभ से, लोभ से, ममता से,

उत्कण्ठा से, प्रणय के नयन की समता से,
सर्वस्व दान
देकर, लेकर सर्वस्व प्रिया का सुकृत मान।
दाब में ग्रीष्म,
भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप,
प्रस्वेद, कम्प,
ज्यों-ज्यों युग उर में और चाप–
और सुख-झम्पः
निश्वास सघन
पृथ्वी की–बहती लूः निर्जीवन
जड़-चेतन।
यह सान्ध्य समय,
प्रलय का दृश्य भरता अम्बर
पीताभ, अग्निमय, ज्यों दुर्जय,
निर्धूम, निरभ्र, दिगन्त प्रसर,
कर भस्मी भूत समस्त विश्व को एक शेष,
उड़ रही धूल, नीचे अदृश्य हो रहा देश।
मैं मन्द-गमन,
घर्माक्त, विरक्त, पार्श्व-दर्शन से खींच नयन,
चल रहा नदीतट को करता मन में विचार–
'हो गया व्यर्थ जीवन,
मैं रण में गया हार!'
सोचा न कभी–
अपने भविष्य की रचना पर चल रहे सभी।'
–इस तरह बहुत कुछ।
आया निज इच्छित स्थल पर
बैठा एकान्त देखकर
मर्माहत स्वर भर!
'फिर लगा सोचने यथासूत्र–' मैं भी होता
यदि राजपुत्र–मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते–जितने विद्याधर–मेरे अनुचर,

मेरे प्रसाद के लिये विनत-सिर उद्यत-कर,
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,
सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा, छापते विशाल चित्र।
इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब-समुद्र-पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार भी रखते धन पर, अविचल-चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,
पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उनपर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,
हिन्दी सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र-पार,
लार्ड के लाड़लों को देता दावत–विहार,
इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण-कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि-दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुक कर,
होता फिर खड़ा इधर को मुख कर कभी उधर,
बीसियों भाव की दृष्टि सतत नीचे ऊपरय
फिर देता दृढ़ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना न रहती अन्य गन्ध प्रान्तिक,
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर-फिर,
फिर पितासंग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभंग,

करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो, साम्यवाद इतना उदार!
तप-तप मस्तक
हो गया सान्ध्य नभ का रक्ताभ दिगन्त-फलक,
खोली आँखें आतुरता से, देखा अमन्द
प्रेयसी के अलक से आती ज्यों स्निग्ध गन्ध,
'आया हूँ मैं तो यहाँ अकेला, रहा बैठ,
सोचा सत्वर,
देखा फिरकर, घिरकर हँसती उपवन-बेला
जीवन में भर–
यह ताप, त्रास
मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,
ज्यों सिद्धि परम
भेदकर कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषम
आई ऊपर,
जैसे पार कर क्षार सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश, शत लहरों पर
कांपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर।
बोला मैं–'बेला, नहीं ध्यान
लोगों का जहाँ, खिली हो बनकर वन्य गान!
जब ताप प्रखर,
लघु प्याले में अतल सुशीतलता ज्यों भर
तुम करा रही हो यह सुगन्ध की सुरा पान!
लाज से नम्र हो उठा, चला मैं और पास
सहसा बह चली सान्धय वेला की सुबातास,
झुक-झुक, तन-तन, फिर झूम-झूम हँस हँस, झकोर,
चिरपरचित चितवन डाल, सहज मुखड़ा मरोर,
भर मुहुर्मुहुर, तन-गन्ध विमल बोली बेला–
मैं देती हूँ सर्वस्व, छुओ मत, अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श

हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श।
मैं रुका वहीं,
वह शिखा नवल
आलोक स्निग्ध भर दिखा गई पथ जो उज्जवल,
मैंने स्तुति की–'हे वन्य वन्हिकी तन्वि नवल!
कविता में कहां खुले ऐसे दुग्धधवल दल?–
यह अपल स्नेह, –
विश्व के प्रणयि-प्रणयिनियों कर
हार-उर गेह?–
गति सहज मन्द
यह कहाँ–कहाँ वामालकचुम्बित पुलक गन्ध?
'केवल आपा खोया, खेला
इस जीवन में,
कह सिहरी तन में वन-बेला।'
'कूऊ कूऊ' बोली कोयल अन्तिम सुख-स्वर,
'पी कहाँ' पपीहा-प्रिया मधुर विष गई छहर,
उर बढा आयु
पल्लव-पल्लव को हिला हरित बह गई वायु,
लहरों में कम्प और लेकर उत्सुक सरिता
तैरी, देखतीं तमश्चरिता
छबि वेला की नभ की ताराएँ निरुपमिता,
शत-नयन-दृष्टि
विस्मय में भर रही विविध-आलोक-सृष्टि।
भाव में हरा मैं, देख मन्द हँस दी बेला,
होली अस्फुट स्वर से–'यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर,
त्यों त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर।'
बिकती जो कौड़ीमोल
यहां होगी कोई इस निर्जन में,
खोजो, यदि हो समतोल
वहाँ कोई, विश्व के नगर-घन में।

है वहां मान,
इसलिये बड़ा है एक, शेष छोटे अजान,
पर ज्ञान जहां,
देखना–बड़े, छोटेय आसमान, समान वहां–
सब सुहृदवर्ग
उनकी आंखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग।
बोला मैं–'यही सत्य, सुन्दर!
नाचतीं वृन्त पर तुम, ऊपर'
होता जब उपल-प्रहार प्रखर!
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर में
अपनी छवि में शुचि संचरिता।
फिर उषःकाल
मैं गया टहलता हुआ, बेल की झुका डाल
तोड़ता फूल कोई ब्राह्मण,
'जाती हूँ मैं', बोली बेला,
जीवन प्रिय के चरणों पर करने को अर्पण–
देखती रही,
निस्स्वन, प्रभात की वायु बही।
30. हताश
जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा अन्तर वज्रकठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुःख की गहन अन्ध-
तम-निशि न कभी हो भोर,
क्या होगी इतनी उज्वलता-
इतना वन्दन अभिनन्दन ?
हो मेरी प्रार्थना विफल,
हृदय-कमल-के जितने दल
मुरझायें, जीवन हो म्लान,
शून्य सृष्टि में मेरे प्राण

प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की,
मेरा जग हो अन्तर्धान,
तब भी क्या ऐसे ही तम में
अटकेगा जर्जर स्यन्दन

31. प्याला

(गीत)

मृत्यु-निर्वाण प्राण-नश्वर
कौन देता प्याला भर भर?
मृत्यु की बाधाएँ, बहु द्वन्द
पार कर कर जाते स्वच्छन्द
तरंगों में भर अगणित रंग,
जंग जीते, मर हुए अमर।
गीत अनगिनित, नित्य नव छन्द
विविध श्रृंखल, शत मंगल-बन्द,
विपुल नव-रस-पुलकित आनन्द
मन्द मृदु झरता है झर झर।
नाचते ग्रह, तारा-मण्डल,
पलक में उठ गिरते प्रतिपल,
धरा घिर घूम रही चंचल,
काल-गुणत्रय-भय-रहित समर।
कांपता है वासन्ती वात,
नाचते कुसुम-दशन तरु-पात
प्रात, फिर विधुप्लावित मधु-रात
पुलकप्लुत आलोड़ित सागर।

32. गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को,
भले और बुरे की,
लोकनिन्दा यश-कथा की
नहीं परवाह मुझे,
दास तुम दोनों का
सशक्तिक चरणों में प्रणाम हैं तुम्हारे देव!

पीछे खड़े रहते हो,
इसी लिये हास्य-मुख
देखता हूँ बार-बार मुड़-मुड़ कर।
बार बार गाता मैं
भय नहीं खाता कभी,
जन्म और मृत्यु मेरे पैरों पर लोटते हैं।
दया के सागर हो तुमय
दस जन्म-जन्म का तुम्हारा मैं हूँ प्रभो!
क्या गति तुम्हारी, नहीं जानता,
अपनी गति, वह भी नहीं,
कौन चाहता भी है जानने को?
भुक्ति-मुक्ति-भक्ति आदि जितने हैं–
जप-तप-साधन-भजन,
आज्ञा से तुम्हारी मैंने दूर इन्हें कर दिया।
एकमात्र आशा पहचान की ही है लगी,
इससे भी करो पार!
देखते हैं नेत्र ये सारा संसार,
नहीं देखते हैं अपने को,
देखें भी क्यों, कहो,
देखते वे अपना रूप
देख दूसरे का मुख।
नेत्र मेरे तुम्हीं हो,
तूप तुम्हारा ही घट-घट में है विद्यमान।
बालकेलि करता हूँ तुम्हारे साथ,
क्रोध करके कभी,
तुमसे किनारा कर दूर चला जाता हूँ,
किन्तु निशाकाल में,
देखता हूँ,
शय्या-शिरोभाग में खड़े तुम चुपचाप,
छलछल आँखें,
हेरते हो मेरे मुख की ओर एक-टक।

बदल जाता है भाव,
पैरों पड़ता हूँ,
किन्तु क्षमा नहीं मांगता,
नहीं करते हो रोष।
ऐसी प्रगल्भता
और कोई कैसे कहो सहन कर सकता है?
तुम मेरे प्रभु हो,
प्राण-सखा मेरे तुमय
कभी देखता हूँ–
'तुम मैं हो, मैं तुम बना,
वाणी तुम, वीणापाणि मेरे कण्ठ में प्रभो,
ऊर्मि से तुम्हारी वह जाते हैं नर-नारी।'
सिन्धुनाद हुंकार,
सूर्य-चन्द में वचन,
मन्द-मन्द पवन तुम्हारा आलाप है,
सत्य है यह सब कथा,
अति स्थूल–अति स्थूल वाह्य यह विकास है
केश जैसे शिर पर।
योजनों तक फैला हुआ
हिम से अच्छादित
मेरु-तट पर है महागिरि,
अग्रभेदी बहु शृंग
अभ्रहीन नभ में उठे,
दृष्टि झुलसाती हुई हिम की शिलाएँ वे,
दिद्युत-विकास से है शतगुण प्रखर ज्योति,
उत्तर अयन में उस
एकीभूत कर की सहस्र ज्योति-रेखाएं
कोटि-वज्र-सम-खर-कर-धार जब ढालती हैं,
एक-एक शृंग पर
मूर्च्छित हुए-से भुवन-भास्कर हैं दीखते,
गलता है हिम-शृंग

टपकता है गुहा में,
घोर नाद करता हुआ
टूट पड़ता है गिरि,
स्वप्न-सम जल-बिम्ब जल में मिल जाता है।
मन की सब वृत्तियाँ एक ही हो जातीं जब,
फैलता है कोटि-सूर्य-निन्दित सत-चित-प्रकाश,
गल जाते भानु, शशधर और तारादल, –
विश्व-व्योममण्डल-चंदातल-पाताल भी,
ब्रह्माण्ड गोपद-समान जान पड़ता है।
दूर जाता है जब मन वाह्यभूमि के,
होता है शान्त धातु,
निश्चल होता है सत्य,
तन्त्रियाँ हृदय की तब ढीली पड़ जाती हैं,
खुल जाते बन्धन समूह, जाते माया-मोह,
गूँजता तुम्हारा अनाहत-नाद जो वहाँ,
सुनता है दास यह भक्तिपूर्वक नतमस्तक,
तत्पर सदाही वह
पूर्ण करने को जो कुछ भी हो तुम्हारा कार्य।
मैं ही तब विद्यमान,
प्रलय के समय में जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-लय
होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह
ध्वस्त होता संसार
पार कर जाता है तर्क की सीमा को,
नहीं रह जाता कुछ–सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह–
महा निर्वाण वह,
नहीं रहते जब कर्म, करण या कारण कुछ,
घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
दूर होते तीनों गुण,
अथवा वे मिल करके शान्त भाव धरते जब
एकाकार होते शुद्ध-परमाणु-का,

मैं ही तब विद्यमान।
'विकसित फिर होता मैं,
मेरी ही शक्ति धरती पहले विकार-रूप,
आदि वाणी प्रणव-ओंकार ही
बजता महाशून्य-पथ में,
अन्तहीन महाकाश सुनता महनाद-ध्वनि,
कारण-मण्डली की निद्रा छूट जाती है,
अगणित परमाणुओं में प्राण समा जाते हैं,
नर्तनावर्तोच्छ्वास
बड़ी दूर-दूर से
चलते केन्द्र की तरफ,
चेतन पवन है, उठाती ऊर्मिमालाएं
महाभूत-सिन्धु पर,
परमाणुओं के आवर्त घन विकास और
रंग-भंग-पतन-उच्छ्वास-संग
बहती बड़े वेग से हैं वे तरंगराजियाँ,
जिससे अनन्त—वे अनन्त खण्ड उठे हुए
घात-प्रतिघातों से शून्य पथ में दौड़ते—
बन-बन ख-मण्डल हैं तारा-ग्रह घूमते,
घूमती यह पृथ्वी भी, मनुष्यों की वास-भूमि।
'मैं ही हूँ आदि कवि,
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में है
जड़ और जीव सारे।
मैं ही खेलता हूँ शक्ति-रूपा निज माया से।
एक, होता अनेक, मैं
देखने के लिये सब अपने स्वरूपों को।
मेरी ही आज्ञा से
बहती इस वेग से है झंझा इस पृथ्वी पर,
गरज उठता है मेघ—
अशनि में नाद होता,
मन्द मन्द बहती वायु

मेरे निश्वास के ग्रहण और त्याग से,
हिमकर सुख-हिमकर की धारा जब बहती है,
तरु औ 'लताएं हैं ढकती धरा को देह
शिशिर से धुले फुल्ल मुख को उठा कर वे
ताकते रह जाते हैं
भास्कर को सुमन-वृन्द।'
(स्वामी विवेकानन्द जी महाराज की
'गाइ गीत सुनाते तोमायष्का अनुवाद।)
33. नाचे उस पर श्यामा
फूले फूल सुरभि-व्याकुल अलि
गूँज रहे हैं चारों ओर
जगतीतल में सकल देवता
भरते शशिमृदु-हँसी-हिलोर।
गन्ध-मन्द-गति मलय पवन है
खोल रही स्मृतियों के द्वार,
ललित-तरंग नदी-नद सरसी,
चल-शतदल पर भ्रमर-विहार।
दूर गुहा में निर्झरिणी की
तान-तरंगों का गुंजार,
स्वरमय किसलय-निलय विहंगों
के बजते सुहाग के तार।
तरुण-चितेरा अरुण बढ़ा कर
स्वर्ण-तूलिका-कर सुकुमार
पट-पृथिवी पर रखता है जब,
कितने वर्णों का आभार।
धरा-अधर धारण करते हैं, –
रँग के रागों के आकार
देख-देख भावुक-जन-मन में
जगते कितने भाव उदार!
गरज रहे हैं मेघ, अशनिका
गूँजा घोर निनाद-प्रमाद,

स्वर्गधराव्यापी संगर का
छाया विकट कटक-उन्माद
अन्धकार उदगीरण करता
अन्धकार घन-घोर अपार
महाप्रलय की वायु सुनाती
'वासों में अगणित हुंकार
इस पर चमक रही है रक्तिम
विद्युज्ज्वाला बारम्बार
फेनिल लहरें गरज चाहतीं
करना गिर-शिखरों को पार,
भीम-घोष-गम्भीर, अतल धँस
टलमल करती धरा अधीर,
अनल निकलता छेद भूमितल,
चूर हो रहे अचल-शरीर।
हैं सुहावने मन्दिर कितने
नील-सलिल-सर-वीचि-विलास-
वलयित कुवलय, खेल खिलानी
मलय वनज-वन-यौवन-हास।
बढ़ा रहा है अंगूरों का
हृदय-रुधिर प्याले का प्यार,
फेन-शुभ्र-सिर उठे बुलबुले
मन्द-मन्द करते गुंजार।
बजती है श्रुति-पथ में वीणा,
तारों की कोमल झंकार
ताल-ताल पर चली बढ़ाती
ललित वासना का संसार।
भावों में क्या जाने कितना
व्रज का प्रकट प्रेम उच्छ्वास,
आँसू ढ्लते, विरह-ताप से
तप्त गोपिकाओं के श्वास,
नीरज-नील नयन, बिम्बाधर

जिस युवती के अति सुकुमार,
उमड़ रहा जिसकी आंखों पर
मृदु भावों का पारावार,
बढ़ा हाथ दोनों मिलने को
चलती प्रकट प्रेम-अभिसार,
प्राण-पखेरू, प्रेम-पींजरा,
बन्द, बन्द है, उसका द्वार!
झेरी झररर-झरर, दमामें
घोर नकारों की है चोप,
कड़-कड़-कड़ सन-सन बन्दूकें,
अररर-अररर-अररर तोप,
धूम-धूम है भीम रणस्थल,
शत-शत ज्वालामुखियाँ घोर
आग उगलतीं, दहक दहक दह
कपाँ रहीं भू-नभ के छोर।
फटते, लगते हैं छाती पर
घाती गोले सौ-सौ बार,
उड़ जाते हैं कितने हाथी,
कितने घोड़े और सवार।
थर-थर पृथ्वी थर्राती है,
लाखों घोड़े कस तैयार
करते, चढ़ते, बढ़ते-अड़ते
झुक पड़ते हैं वीर जुझार।
भेद धूम-तल-अनल, प्रबल दल
चीर गोलियों की बौछार,
धँस गोलों-ओलों में लाते
छीन तोक कर वेड़ी मार,
आगे आगे फहराती है
ध्वजा वीरता की पहचान,
झरती धारा-रुधिर दण्ड में
अड़े पड़े पर वीर जवान,

साथ साथ पैदल-दल चलता,
रण-मद-मतवाले सब वीर,
छुटी पताका, गिरा वीर जब,
लेता पकड़ अपर रणधीर,
पटे खेत अगणित लाशों से
कटे हजारों वीर जवान,
डटे लाश पर पैर जमाये,
हटे न वीर छोड़ मैदान।
देह चाहता है सुख-संगम
चित्त-विहंगम स्वर-मधु-धार,
हँसी-हिंडोला झूल चाहता
मन जाना दु:ख-सागर-पार!
हिम-शशांक का किरण-अंग-सुख
कहो, कौन जो देगा छोड़-
तपन-ताप-मध्यान्ह प्रखरता
से नाता जो लेगा जोड़?
चण्ड दिवाकर ही तो भरता
शशघर में कर-कोमल-प्राण,
किन्तु कलाधर को ही देता
सारा विश्व प्रेम-सम्मान!
सुख के हेतु सभी हैं पागल,
दु:ख से किस पामर का प्यार?
सुख में है दु:ख, गरल अमृत में,
देखो, बता रहा संसार।
सुख-दु:ख का यह निरा हलाहल
भरा कण्ठ तक सदा अधीर,
रोते मानव, पर आशा का
नहीं छोड़ते चंचल चीर!
रुद्र रूप से सब डरते हैं,
देख देख भरते हैं आह,
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला

माँ की नहीं किसी को चाह!
उष्णधार उद्‌गार रुधिर का
करती है जो बारम्बार,
भीम भुजा की, बीन छीनती,
वह जंगी नंगी तलवार।
मृत्यु-स्वरूपे माँ, है तू ही
सत्य स्वरूपा, सत्याधार,
काली, सुख-वनमाली तेरी
माया छाया का संसार!
अये–कालिके, माँ करालिके,
शीघ्र मर्म का कर उच्छेद,
इस शरीर का प्रेम-भाव, यह
सुख-सपना, माया, कर भेद!
तुझे मुण्डमाला पहनाते,
फिर भय खाते तकते लोग,
'दयामयी' कह कह चिल्लाते,
माँ, दुनिया का देखा ढोंग।
प्राण काँपते अट्‌टहास सुन
दिगम्बरा का लख उल्लास,
अरे भयातुरय असुर विजयिनी
कह रह जाता, खाता त्रास!
मुँह से कहता है, देखेगा,
पर माँ, जब आता है काल,
कहाँ भाग जाता भय खाकर
तेरा देख बदन विकराल!
माँ, तू मृत्यु घूमती रहती,
उत्कट व्याधि, रोग बलवान,
भर विष-घड़े, पिलाती है तू
घूँट जहर के, लेती प्राण।
रे उन्माद! भुलाता है तू
अपने को, न फिराता दृष्टि

पीछे भय से, कहीं देख तू
भीमा महाप्रलय की सृष्टि।
दुःख चाहता, बता, इसमें क्या
भरी नहीं है सुख की प्यास?
तेरी भक्ति और पूजा में
चलती स्वार्थ-सिद्ध की साँस।
छाग-कण्ठ की रुधिर-धार से
सहम रहा तू, भय-संचार!
अरे कापुरुष, बना दया का
तू आधार!—धन्य व्यवहार!
फोड़ो वीणा, प्रेम-सुधा का
पीना छोड़ो, तोड़ो, वीर,
दृढ़ आकर्षण है जिसमें उस
नारी-माया की जंजीर।
बढ़ जाओ तुम जलधि-ऊर्मि-से
गरज-गरज गाओ निज गान,
आँसू पीकर जीनाय जाये
देह, हथेली पर लो जान।
जागो वीर! सदा ही सर पर
काट रहा है चक्कर काल,
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों,
काटो, काटो यह भ्रम-जाल।
दुःखभार इस भव के ईश्वर,
जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार
जलती हुई चिताओं में है
प्रेत-पिशाचों का आगार,
सदा घोर संग्राम छेड़ना
उनकी पूजा के उपचार,
वीर! डराये कभी न, आये
अगर पराजय सौ-सौ बार।
चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब

मान, हृदय हो महाश्मशान,
नाचे उसपर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण।
(स्वामी विवेकानन्द जी महाराज
की सुविख्यात रचना 'नाचुक
ताहाते श्यामा' का अनुवाद।
स्वामी जी ने इसमें कोमल
और कठोर भावों की वर्णना
द्वारा कठोरता की सिद्धि दिखाई है।)

34. हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र

मैं जीर्ण-साज बहु छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन,
मैं हूँ केवल पतदल-आसन,
तुम सहज बिराजे महाराज।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छबि।
तुम मध्य भाग के, महाभाग!-
तरु के उर के गौरव प्रशस्त
मैं पढ़ा जा चुका पत्र, न्यस्त,
तुम अलि के नव रस-रंग-राग।
देखो, पर, क्या पाते तुम 'फल'
देगा जो भिन्न स्वाद रस भर,
कर पार तुम्हारा भी अन्तर
निकलेगा जो तरु का सम्बल।
फल सर्वश्रेष्ठ नायाब चीज
या तुम बाँध कर रँगा धागा,
फल के भी उर का, कटु, त्यागा,
मेरा आलोचक एक बीज

35. उक्ति

कुछ न हुआ, न हो
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो!
मेरे नभ के बादल यदि न कटे–
चन्द्र रह गया ढका,
तिमिर रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन–भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो।
बहु–रस साहित्य विपुल यदि न पढ़ा–
मन्द सबों ने कहा,
मेरा काव्यानुमान यदि न बढ़ा–
ज्ञान, जहाँ का रहा,
रहे, समझ है मुझमें पूरी, तुम
कथा यदि कहो।

36. सरोज स्मृति

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन–सिन्धु–तरण,
तनये, ली कर दृक्पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण!
गीते मेरी, तज रूप–नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु–तरणि पर तूर्ण–चरण
कह – 'पितः, पूर्ण आलोक–वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,
'सरोज' का ज्योतिःशरण – तरण !' –
अशब्द अधरों का सुना भाष,
मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश

मैंने कुछ, अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।
जीवित-कविते, शत-शर-जर्जर
छोड़ कर पिता को पृथ्वी पर
तू गई स्वर्ग, क्या यह विचार –
'जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम,
तारूँगी कर गह दुस्तर तम?'–
कहता तेरा प्रयाण सविनय, –
कोई न था अन्य भावोदय।
श्रावण-नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गई पार!
धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख।
क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न,
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।
सोचा है नत हो बार-बार –
'यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार-लोकोत्तर वर!' –
अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य-कला-कौशल प्रबुद्ध,
हैं दिये हुए मेरे प्रमाण

कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान
पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त। –
देखें वेय हसँते हुए प्रवर,
जो रहे देखते सदा समर,
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप, वह रण-कौशल।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध-कंठ फल।
और भी फलित होगी वह छवि,
जागे जीवन-जीवन का रवि,
लेकर-कर कल तूलिका कला,
देखो क्या रँग भरती विमला,
वांछित उस किस लांछित छवि पर
फेरती स्नेह कूची भर।
अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम
कुछ दिन को, जब तू रही साथ,
अपने गौरव से झुका माथ,
पुत्री भी, पिता-गेह में स्थिर,
छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर।
आँसुओं सजल दृष्टि की छलक
पूरी न हुई जो रही कलक
प्राणों की प्राणों में दब कर
कहती लघु-लघु उसाँस में भर,
समझता हुआ मैं रहा देख,
हटती भी पथ पर दृष्टि टेक।
तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान में चपल

माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण
भरती जीवन में नव जीवन,
वह चरित पूर्ण कर गई चली
तू नानी की गोद जा पली।
सब किये वहीं कौतुक-विनोद
उस घर निशि-वासर भरे मोद,
खाई भाई की मार, विकल
रोई उत्पल-दल-दृग-छलछल,
चुमकारा सिर उसने निहार
फिर गंगा-तट-सैकत-विहार
करने को लेकर साथ चला,
तू गहकर चली हाथ चपला,
आँसुओं-धुला मुख हासोच्छल,
लखती प्रसार वह ऊर्मि-धवल।
तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध-गति मुक्त छंद,
पर संपादकगण निरानंद
वापस कर देते पढ़ सत्त्वर
दे एक-पंक्ति-दो में उत्तर।
लौटी लेकर रचना उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।
याद है दिवस की प्रथम धूप
थी पड़ी हुई तुझ पर सुरूप,
खेलती हुई तू परी चपल,

मैं दूरस्थित प्रवास में चल
दो वर्ष बाद हो कर उत्सुक
देखने के लिये अपने मुख
था गया हुआ, बैठा बाहर
आँगन में फाटक के भीतर,
मोढ़े पर, ले कुंडली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ-गाथ।
पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह।
हँसता था, मन में बड़ी चाह
खंडित करने को भाग्य-अंक,
देखा भविष्य के प्रति अशंक।
इससे पहिले आत्मीय स्वजन
सस्नेह कह चुके थे जीवन
सुखमय होगा, विवाह कर लो
जो पढ़ी लिखी हो – सुन्दर हो।
आये ऐसे अनेक परिणय,
पर विदा किया मैंने सविनय
सबको, जो अड़े प्रार्थना भर
नयनों में, पाने को उत्तर
अनुकूल, उन्हें जब कहा निडर –
'मैं हूँ मंगली,' मुड़े सुनकर
इस बार एक आया विवाह
जो किसी तरह भी हतोत्साह
होने को न था, पड़ी अड़चन,
आया मन में भर आकर्षण
उस नयनों का, सासु ने कहा –
'वे बड़े भले जन हैं भैय्या,
एन्ट्रेंस पास है लड़की वह,
बोले मुझसे – 'छब्बीस ही तो
वर की है, उम्र, ठीक ही है,
लड़की भी अट्ठारह की है।'

फिर हाथ जोड़ने लगे कहा –
'वे नहीं कर रहे ब्याह, अहा,
हैं सुधरे हुए बड़े सज्जन।
अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन।
हैं बड़े नाम उनके। शिक्षित
लड़की भी रूपवतीय समुचित
आपको यही होगा कि कहें
हर तरह उन्हेंय वर सुखी रहें।'
आयेंगे कल।' दृष्टि थी शिथिल,
आई पुतली तू खिल-खिल-खिल
हँसती, मैं हुआ पुनः चेतन
सोचता हुआ विवाह-बन्धन।
कुंडली दिखा बोला – 'ए – लो'
आई तू, दिया, कहा–'खेलो।'
कर स्नान शेष, उन्मुक्त-केश
सासुजी रहस्य-स्मित सुवेश
आईं करने को बातचीत
जो कल होनेवाली, अजीत,
संकेत किया मैंने अखिन्न
जिस ओर कुंडली छिन्न-भिन्न,
देखने लगीं वे विस्मय भर
तू बैठी संचित टुकड़ों पर।
धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज-तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यौं मालकौस नव वीणा पर,
नैश स्वप्न ज्यों तू मंद-मंद
फूटी उषा जागरण छंद
काँपी भर निज आलोक-भार,

काँपा वन, काँपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल –
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल
क्या दृष्टि। अतल की सिक्त-धार
ज्यों भोगावती उठी अपार,
उमड़ता उर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील नील,
पर बँधा देह के दिव्य बाँध,
छलकता दृगों से साध साध।
फूटा कैसा प्रिय कंठ-स्वर
माँ की मधुरिमा व्यंजना भर
हर पिता कंठ की दृप्त-धार
उत्कलित रागिनी की बहार!
बन जन्मसिद्ध गायिका, तन्वि,
मेरे स्वर की रागिनी वह्निल
साकार हुई दृष्टि में सुघर,
समझा मैं क्या संस्कार प्रखर।
शिक्षा के बिना बना वह स्वर
है, सुना न अब तक पृथ्वी पर!
जाना बस, पिक-बालिका प्रथम
पल अन्य नीड़ में जब सक्षम
होती उड़ने को, अपना स्वर
भर करती ध्वनित मौन प्रान्तर।
तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि,
जागा उर में तेरा प्रिय कवि,
उन्मनन-गुंज सज हिला कुंज
तरु-पल्लव कलिदल पुंज-पुंज
बह चली एक अज्ञात बात
चूमती केश–मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक-नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

सासु ने कहा लख एक दिवस --
'भैया अब नहीं हमारा बस,
पालना-पोसना रहा काम,
देना 'सरोज' को धन्य-धाम,
शुचि वर के कर, कुलीन लखकर,
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर,
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो, ढूंढकर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह
होंगे सहाय हम सहोत्साह।'
सुनकर, गुनकर, चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा, – न अहो, न अहा,
ले चला साथ मैं तुझे कनक
ज्यों भिक्षुक लेकर, स्वर्ण-झनक
अपने जीवन की, प्रभा विमल
ले आया निज गृह-छाया-तल।
सोचा मन में हत बार-बार –
'ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार,
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय-बेलि में विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल – नहीं सुजल।'
फिर सोचा – 'मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन
होगा मुझको, यह लोक-रीति
कर दूं पूरी, गो नहीं भीति
कुछ मुझे तोड़ते गत विचार,
पर पूर्ण रूप प्राचीन भार
ढोते मैं हूँ अक्षमय निश्चय
आयेगी मुझमें नहीं विनय
उतनी जो रेखा करे पार

सौहार्द्र-बंध की निराधार।
वे जो यमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर-गंध,
उन चरणों को मैं यथा अंध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूं, ऐसी नहीं शक्ति।
ऐसे शिव से गिरिजा-विवाह
करने की मुझको नहीं चाह!'
फिर आई याद – 'मुझे सज्जन
है मिला प्रथम ही विद्वज्जन
नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,
कुल कान्यकुब्ज, यह नैमित्तिक
होगा कोई इंगित अदृश्य,
मेरे हित है हित यही स्पृश्य
अभिनन्दनीय।' बँध गया भाव,
खुल गया हृदय का स्नेह-स्राव,
खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,
युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।
बोला मैं – 'मैं हूँ रिक्त-हस्त
इस समय, विवेचन में समस्त –
जो कुछ है मेरा अपना धन
पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण
यदि महाजनों को तो विवाह
कर सकता हूँ, पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूं यह नहीं सुघर,
बारात बुला कर मिथ्या व्यय
मैं करूँ नहीं ऐसा सुसमय।

तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न केय पढ़ूंगा स्वयं मंत्र
यदि पंडितजी होंगे स्वतन्त्र।
जो कुछ मेरे, वह कन्या का,
निश्चय समझो, कुल धन्या का।'
आये पंडित जी, प्रजावर्ग,
आमन्त्रित साहित्यिक ससर्ग
देखा विवाह आमूल नवल,
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।
देखती मुझे तू हँसी मन्द,
होंठो में बिजली फँसी स्पन्द
उर में भर झूली छवि सुन्दर,
प्रिय की अशब्द शृंगार-मुखर
तू खुली एक उच्छवास संग,
विश्वास-स्तब्ध बँध अंग-अंग,
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।
देखा मैनें वह मूर्ति-धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति –
शृंगार, रहा जो निराकार,
रस कविता में उच्छ्वसित-धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया-संग –
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदल कर बना मही।
हो गया ब्याह आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न आमन्त्रण
था भेजा गया, विवाह-राग
भर रहा न घर निशि-दिवस जाग,
प्रिय मौन एक संगीत भरा

नव जीवन के स्वर पर उतरा।
माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में, 'वह शकुन्तला,
पर पाठ अन्य यह अन्य कला।'
कुछ दिन रह गृह तू फिर समोद
बैठी नानी की स्नेह-गोद।
मामा-मामी का रहा प्यार,
भर जलद धरा को ज्यों अपार,
वे ही सुख-दुःख में रहे न्यस्त,
तेरे हित सदा समस्त, व्यस्त,
वह लता वहीं की, जहाँ कली
तू खिली, स्नेह से हिली, पली,
अंत भी उसी गोद में शरण
ली, मूंदे दृग वर महामरण!
मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुःख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही!
हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म, रहे नत सदा माथ
इस पथ पर, मेरे कार्य सकल
हो भ्रष्ट शीत के-से शतदल!
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण!
(निराला की पुत्री सरोज की मृत्यु
18 वर्ष की उम्र में हो गयी।
सरोज स्मृति नामक इस रचना
में कवि ने अपनी पुत्री की
स्मृतियों को संजोया है।)

37. मरण-दृश्य
कहा जो न, कहो !
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच-रच दो !
विश्व सीमाहीनय
बाँधती जातीं मुझे कर कर
व्यथा से दीन !
कह रही हो–'दुःख की विधि–
यह तुम्हें ला दी नई निधि,
विहग के वे पंख बदले, –
किया जल का मीन,
मुक्त अम्बर गया, अब हो
जलधि-जीवन को !'
सकल साभिप्रायय
समझ पाया था नहीं मैं,
थी तभी यह हाय !
दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन,
कह रही हो हँस–'पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय !
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आई हुई, न डरो !'

38. मुक्ति
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर, की निकलो फिर,
गंगा-जल-धारा!
गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती!–
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा!–
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा!

39. खुला आसमान

(गीत)

बहुत दिनों बाद खुला आसमान!
निकली है धूप, खुश हुआ जहान!
दिखी दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर—गाय-भैंस-भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियाँ घरों को कर भासमान!
लोग गाँव-गाँव को चले,
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया-लँगोटा ले, सँभले,
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान!
पनघट में बड़ी भीड़ हो रही,
नहीं ख्याल आज कि भीगेगी चूनरी,
बातें करती हैं वे सब खड़ी,
चलते हैं नयनों के सधे बाण!

40. ठूँठ

ठूँठ यह है आज!
गई इसकी कला,
गया है सकल साज!
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन-तीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद।

41. कविता के प्रति

ऐ, कहो,
मौन मत रहो!
सेवक इतने कवि हैं—इतना उपचार—
लिये हुए हैं दैनिक सेवा का भार,

धूप, दीप, चन्दन, जल,
गन्ध-सुमन, दूर्वादल,
राग-भोग, पाठ-विमल मन्त्र,
पटु-करतल-गत मृदंग,
चपल नृत्य, विविध भंग,
वीणा-वादित सुरंग तन्त्र।
गूँज रहा मन्दर-मन्दिर का दृढ़ द्वार,
वहाँ सर्व-विषय-हीन दीन नमस्कार
दिया भू-पतित हो जिसने, क्या वह भी कवि?
सत्य कहो, सत्य कहो, वहु जीवन की छवि!
पहनाये ज्योतिर्मय, जलधि-जलद-भास
अथवा हिल्लोल-हरित-प्रकृति-परित वास,
मुक्ता के हार हृदय,
कर्ण कीर्ण हीरक-द्वय,
हाथ हस्ति-दन्त-वलय मणिमय,
चरण स्वर्ण-नूपुर कल,
जपालक्त श्रीपदतल,
आसन शत-श्वेतोत्पल-संचय।
धन्य-धन्य कहते हैं जग-जन मन हार,
वहाँ एक दीन-हृदय ने दुर्वह भार–
'मेरे कुछ भी नहीं'–कह जो अर्पित किया,
कहो, विश्ववन्दिते, उसने भी कुछ दिया?
कितने वन-उपवन-उद्यान कुसुम-कलि-सजे
निरुपमिते, सगज-भार-चरण-चार से लजे,
गई चन्द्र-सूर्य-लोक,
ग्रह-ग्रह-पति गति अरोक,
नयनों के नवालोक से खिले
चित्रित बहु धवल धाम
अलका के-से विराम
सिहरे ज्यों चरण वाम जब मिले।
हुए कृती कविताग्रत राजकविसमूह,

किन्तु जहाँ पथ-बीहड़ कण्टक-गढ़-व्यूह,
कवि कुरूप, बुला रहा वन्यहार थाम,
कहो, वहाँ भी जाने को होते प्राण?
कितने वे भाव रसस्राव पुराने-नये
संसृति की सीमा के अपर पार जो गये,
गढ़ा इन्हीं से यह तन,
दिया इन्हीं से जीवन,
देखे हैं स्फुरित नयन इन्हीं से,
कवियों ने परम कान्ति
दी जग को चरम शान्ति,
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्हीं से।
होगा इन भावों से हुआ तुम्हारा जीवन,
कमी नहीं रही कहीं कोई—कहते सब जन,
किन्तु वहीं जिसके आँसू निकले—हृदय हिला, —
कुछ न बना, कहो, कहो, उससे क्या भाव मिला?

42. अपराजिता

(गीत)

हारीं नहीं, देख, आँखें—
परी नागरी की,
नभ कर गंई पार पाखें
परी नागरी की।
तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जगकर नई ज्योति उतरी धरा पर,
रँग से भरी हैं, हरी हो उठीं हर
तरु की तरुण-तान शाखें,
परी नागरी की—
हारीं नहीं, देख, आँखें।

43. वसन्त की परी के प्रति

(गीत)

आओ, आओ फिर, मेरे बसन्त की परी—
छवि-विभावरी,

सिहरो, स्वर से भर भर, अम्बर की सुन्दरी–
छबि–विभावरी,
बहे फिर चपल ध्वनि–कलकल तरंग,
तरल मुक्त नव–नव छल के प्रसंग,
पूरित–परिमल निर्मल सजल–अंग,
शीतल–मुख मेरे तट की निस्तल निझरी–
छबि–विभावरी,
निर्जन ज्योत्स्नाचुम्बित वन सघन,
सहज समीरण, कली निरावरण
आलिंगन दे उभार दे मन,
तिरे नृत्य करती मेरी छोटी सी तरी–
छबि–विभावरी,
आई है फिर मेरी 'बेला' की वह बेला
'जुही की कली' की प्रियतम से परिणय–हेला,
तुमसे मेरी निर्जन बातें–सुमिलन मेला,
कितने भावों से हर जब हो मन पर विहरी–
छबि–विभावरी,

44. वे किसान की नयी बहू की आँखें
नहीं जानती जो अपने को खिली हुई–
विश्व–विभव से मिली हुई, –
नहीं जानती सम्राज्ञी अपने को, –
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नयी बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें,
वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास–हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनियाँ के कर से–
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से।

45. प्राप्ति
तुम्हें खोजता था मैं,
पा नहीं सका,

हवा बन बहीं तुम, जब
मैं थका, रुका।
मुझे भर लिया तुमने गोद में,
कितने चुम्बन दिये,
मेरे मानव-मनोविनोद में
नैसर्गिकता लिये,
सूखे श्रम-सीकर वे
छबि के निर्झर झरे नयनों से,
शक्त शिराएँ हुई रक्त-वाह ले,
मिलीं - तुम मिलीं, अन्तर कह उठा
जब थका, रुका।

46. राम की शक्ति पूजा

रवि हुआ अस्तय ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का तीक्ष्ण शर-विधृत-क्षिप्रकर, वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नील नभगर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल - परिवर्तित - व्यूह - भेद कौशल समूह
राक्षस - विरुद्ध प्रत्यूह, -क्रुद्ध - कपि विषम हूह,
विच्छुरित वह्नि - राजीवनयन - हतलक्ष्य - बाण,
लोहितलोचन - रावण मदमोचन - महीयान,
राघव-लाघव - रावण - वारण - गत - युग्म - प्रहर,
उद्धत - लंकापति मर्दित - कपि - दल-बल - विस्तर,
अनिमेष - राम-विश्वजिद्दिव्य - शर - भंग - भाव,
विद्धांग-बद्ध - कोदण्ड - मुष्टि - खर - रुधिर - स्राव,
रावण - प्रहार - दुर्वार - विकल वानर - दल - बल,
मुर्छित - सुग्रीवांगद - भीषण - गवाक्ष - गय - नल,
वारित - सौमित्र - भल्लपति - अगणित - मल्ल - रोध,
गर्ज्जित - प्रलयाब्धि - क्षुब्ध हनुमत् - केवल प्रबोध,
उद्गीरित - वह्नि - भीम - पर्वत - कपि चतुःप्रहर,
जानकी - भीरू - उर - आशा भर - रावण सम्वर।
लौटे युग - दल - राक्षस - पदतल पृथ्वी टलमल,

बिंध महोल्लास से बार - बार आकाश विकल।
वानर वाहिनी खिन्न, लख निज - पति - चरणचिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविरदल ज्यों विभिन्न।
प्रशमित हैं वातावरण, नमित - मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्तापल पीछे वानर वीर - सकल
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
'लथ धनु-गुण है, कटिबन्ध स्रस्त तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा - मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकतीं दूर ताराएं ज्यों हों कहीं पार।
आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर
सेनापति दल - विशेष के, अंगद, हनुमान
नल नील गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर दल आश्रय स्थल।
बैठे रघु-कुल-मणि श्वेत शिला पर, निर्मल जल
ले आये कर - पद क्षालनार्थ पटु हनुमान
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या - विधान
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर,
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर,
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर,
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद-पद्म के महावीर,
यूथपति अन्य जो, यथास्थान हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम-देश।
है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यानमग्न, केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर - फिर संशय
रह - रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय,

जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त,
एक भी, अयुत-लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार - बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का, -प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का-नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण, -
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन, -
काँपते हुए किसलय, -झरते पराग-समुदय, -
गाते खग-नव-जीवन-परिचय-तः मलय-वलय, -
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय, -ज्ञात छवि प्रथम स्वीय, -
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।
सिहरा तन, क्षण-भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आयी भर,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत, -
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, बिराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर,
फिर देखी भीम मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ बुझ कर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन,
लख शंकाकुल हो गये अतुल बल शेष शयन,
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन,
फिर सुना हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्तादल।
बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द-

युग 'अस्ति-नास्ति' के एक रूप, गुण-गण-अनिन्द्य,
साधना-मध्य भी साम्य-वाम-कर दक्षिणपद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद् गद्
पा सत्य सच्चिदानन्द रूप, विश्राम - धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम - नाम।
युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारादल,
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ, -
सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ,
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल,
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वहीं कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख निश्चेतन।
'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति - खेल - सागर अपार,
हो श्वसित पवन - उनचास, पिता पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरंग - भंग, उठते पहाड़,
जल राशि - राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डूबा अतल में देश - भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रूद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।
रावण - महिमा श्यामा विभावरी, अन्धकार,
यह रूद्र राम - पूजन - प्रताप तेज: प्रसार,
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
इस ओर रूद्र-वन्दन जो रघुनन्दन - कूजित,
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल,
लख महानाश शिव अचल, हुए क्षण-भर चंचल,

श्यामा के पद तल भार धरण हर मन्द्रस्वर
बोले- 'सम्बरो, देवि, निज तेज, नहीं वानर
यह, -नहीं हुआ शृंगार-युग्म-गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय - शरीर,
चिर - ब्रह्मचर्य - रत, ये एकादश रूद्र धन्य,
मर्यादा - पुरूषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य,
लीलासहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार,
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।'
कह हुए मौन शिव, पतन तनय में भर विस्मय
सहसा नभ से अंजनारूप का हुआ उदय।
बोली माता 'तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें, रहे बालक केवल,
यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह रह।
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह।
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल,
पूजते जिन्हें श्रीराम उसे ग्रसने को चल
क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ? सोचो मन में,
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्री रधुनन्दन ने?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य,
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिये धार्य?'
कपि हुए नम्र, क्षण में माता छवि हुई लीन,
उतरे धीरे-धीरे गह प्रभुपद हुए दीन।
राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
'हे सखा' विभीषण बोले 'आज प्रसन्न वदन
वह नहीं देखकर जिसे समग्र वीर वानर
भल्लुक विगत-श्रम हो पाते जीवन निर्जर,
रघुवीर, तीर सब वही तूण में हैं रक्षित,
है वही वक्ष, रणकुशल हस्त, बल वही अमित,
हैं वही सुमित्रानन्दन मेघनादजित् रण,

हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
ताराकुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही एक अर्बुद सम महावीर
हैं वही दक्ष सेनानायक है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव प्रहर।
रघुकुलगौरव लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ, हो रहा हो जब जय रण।
कितना श्रम हुआ व्यर्थ, आया जब मिलनसमय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय!
रावण? रावण लम्पट, खल कल्म्ष गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पादप्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुःख सीता को फिर,
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर,
सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित पिक
मैं बना किन्तु लंकापति, धिक राघव, धिक-धिक?
सब सभा रही निस्तब्ध
राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव
उससे न इन्हें कुछ चाव, न कोई दुराव,
ज्यों हों वे शब्दमात्र मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति।
कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर,
बोले रघुमणि-'मित्रवर, विजय होगी न समर,
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण,
अन्याय जिधर, हैं, उधर शक्ति।' कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृगजल,
रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण तेजः प्रचण्ड
धँस गया धरा में कपि गह युगपद, मसक दण्ड
स्थिर जाम्बवान, समझते हुए ज्यों सकल भाव,

व्याकुल सुग्रीव, हुआ उर में ज्यों विषम घाव,
निश्चित सा करते हुए विभीषण कार्यक्रम
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।
निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले-'आया न समझ में यह दैवी विधान।
रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर,
यह रहा, शक्ति का खेल समर, शंकर, शंकर!
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेजः पुंज, सृष्टि की रक्षा का विचार,
हैं जिसमें निहित पतन घातक संस्कृति अपार।
शत-शुद्धि-बोध, सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में, श्रीहत खण्डित!
देखा हैं महाशक्ति रावण को लिये अंक,
लांछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक,
हत मन्त्रपूत शर सम्वृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार।
विचलित लख कपिदल क्रुद्ध, युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात्, देखने लगीं मुझे बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं, हुआ त्रस्त!'
कह हुए भानुकुलभूष्ण वहाँ मौन क्षण भर,
बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान-'रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर।
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सकता त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,

शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन।
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक,
मध्य भाग में अंगद, दक्षिण-श्वेत सहायक।
मैं, भल्ल सैन्य, हैं वाम पार्श्व में हनुमान,
नल, नील और छोटे कपिगण, उनके प्रधान।
सुग्रीव, विभीषण, अन्य यथुपति यथासमय
आयेंगे रक्षा हेतु जहाँ भी होगा भय।'
खिल गयी सभा। 'उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ!'
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल-तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन,
बोले आवेग रहित स्वर सें विश्वास स्थित
'मातः, दशभुजा, विश्वज्योतिय मैं हूँ आश्रित,
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरंजन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्जित!
यह, यह मेरा प्रतीक मातः समझा इंगित,
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।'
कुछ समय तक स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक कमल ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न।
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए, राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्रमुख निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर स्वर मेघमन्द्र,
'देखो, बन्धुवर, सामने स्थिर जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द विन्दु,
गरजता चरण प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।
दशदिक समस्त हैं हस्त और देखो ऊपर,

अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव मंगल पदतल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।'
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर सें अन्तर सींचते हुए,
'चाहिए हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम से कम, अधिक और हों, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उष:काल होते सत्वर
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।'
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभुपद रज सिर धर चले हर्ष भर हनुमान।
राघव ने विदा किया सबको जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।
निशि हुई विगत: नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा ज्योति हिरण।
हैं नहीं शरासन आज हस्त तूणीर स्कन्ध
वह नहीं सोहता निविड़-जटा-दृढ़-मुकुट-बन्ध,
सुन पड़ता सिंहनाद, -रण कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार,
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम,
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण
गहन-से-गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से चक्र मन बढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस,
कर-जप पूरा कर एक चढाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित-मन,
प्रतिजप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण,
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर।

दो दिन निःस्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम।
आठवाँ दिवस मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध।
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता पार
प्रायः करने हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर, रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर
हँस उठा ले गई पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नीलकमल।
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चंचल,
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल।
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय,
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयनद्वय,
'धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का हो न सका,
वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युतगति हतचेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग पा भाव प्रमन।
'यह है, उपाय', कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन-
'कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।'
कहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक।
ले अस्त्र वाम पर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन

ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय-
'साधु, साधु, साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम!'
कह, लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वामपद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर।
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र सज्जित,
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित।
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रणरंग राग,
मस्तक पर शंकर! पदपद्मों पर श्रद्धाभर
श्री राघव हुए प्रणत मन्द स्वर वन्दन कर।
'होगी जय, होगी जय, हे पुरूषोत्तम नवीन।'
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।

47. सखा के प्रति

रोग स्वास्थ्य में, सुख में दुःख, है अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी है रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम, मतिमन?—छिड़ा हुआ है रण अविराम
घोर द्वन्द्व काय यहाँ पुत्र को पिता भी नहीं देता स्थान।
गूँज रहा रव घोर स्वार्थ का, यहाँ शान्ति का मुक्ताकार
कहाँ? नरक प्रत्यक्ष स्वर्ग है, कौन छोड़ सकता संसार?
कर्म-पाश से बँधा गला, वह क्रीतदास जाये किस ठौर?
सोचा, समझा है मैंने, पर एक उपाय न देखा और,
योग-भोग, जप-तप, धन-संचय, गार्हस्थ्याश्रम, दृढ़ सन्यास,
त्याग-तपस्या-व्रत सब देखा, पाया है जो मर्माभास
मैंने, समझा, कहीं नहीं सुख, है यह तनु-धारण ही व्यर्थ,
उतना ही दुःख है जितना ही ऊँचा है तव हृदय समर्थ।
हे सहृदय, निस्वार्थ प्रेम के! नहीं तुम्हारा जग में स्थान,
लौह-पिण्ड जो चोटें सहता, मर्मर के अति-कोमल प्राण
उन चोटों को सह सकते क्या? होओ जड़वत, नीचाधार,

मधु-मुख, गरल-हृदय, निजता-रत, मिथ्यापर, देगा संसार
जगह तुम्हें तब। विद्यार्जन के लिए प्राण-पण से अतिपात
अर्द्ध आयु का किया, फिरा फिर पागल-सा फैलाये हाथ
प्राण-रहित छाया के पीछे लुब्ध प्रेम का, विविध निषेध–
विधियाँ की हैं धर्म-प्राप्ति को, गंगा-तट, 'मशान, गत-खेद,
नदी-तीर, पर्वत-गह्वर फिर, भिक्षाटन में समय अपार
पार किया असहाय, छिन्न कौपीन जीर्ण अम्बर तनु धार
द्वार-द्वार फिर, उदर-पूर्ति कर, भग्न शरीर तपस्या-भार–
धारण से, पर अर्जित क्या पाया है मैंने अन्तर-सार–
सुनो, सत्य जो जीवन में मैंने समझा है-यह संसार
घोर तरंगाघात-क्षुब्ध है–एक नाव जो करती पार, –
तन्त्र, मन्त्र, नियमन प्राणों का, मत अनेक, दर्शन-विज्ञान,
त्याग-भोग, भ्रम घोर बुद्धि का,'प्रेम प्रेम' धन को पहचान
जीव-ब्रह्म-नर-निर्जर-ईश्वर-प्रेत-पिशाच-भूत-बैताल-
पशु-पक्षी-कीटाणुकीट में यही प्रेम अन्तर-तम-ज्वाल।
देव, देव! वह और कौन है, कहो चलाता सबको कौन?
–माँ को पुत्र के लिये देता प्राण, –दस्यु हरता है, मौन
प्रेरण एक प्रेम का ही। वे हैं मन-वाणी से अज्ञात–
वे ही सुख-दुःख में रहती हैं–शक्ति मृत्यु-रूपा अवदात,
मातृभाव से वे ही आतीं। रोग, शोक, दारिद्रय कठोर,
धर्म, अधर्म शुभाशुभ में है पूजा उनकी ही सब ओर,
बहु भावों से, कहो और क्या कर सकता है जीव विधान?
भ्रम में ही है वह सुख की आकांक्षा में हैं डूबे प्राण
जिसके, वैसे दुःख की रखता है जो चाह–घोर उन्माद!–
मृत्यु चाहता है-पागल है वह भी, वृथा अमरतावाद!
जितनी दूर, दूर चाहे जितना जाओ चढ़कर रथ पर
तीव्र बुद्धि के, वहाँ वहाँ तक फैला यही जलधि दुस्तर
संसृति का, सुख-दुःख-तरंगावर्त-घूर्ण्य, कम्पित, चंचल,
पंख-विहीन हो रहे हो तुम, सुनो यहाँ के विहग सकल!
नहीं कहीं उड़ने का पथ है, कहाँ भाव जाओगे तुम?
बार-बार आघात पा रहे–व्यर्थ कर रहो हो उद्यम!

छोड़ी विद्या जप-तप का बलय स्वार्थ-विहीन प्रेम आधार
एक हृदय का, देखो, शिक्षा देता है पतंग कर प्यार
अग्नि-शिखा को आलिंगन कर, रूप-मुग्ध वह कीट अधम
अन्ध और तुम मत्त प्रेम के, हृदय तुम्हारा उज्जवलतम।
प्रेमवन्त! सब स्वार्थ-मलिनत अनल कुण्ड में भस्मीकृत
कर दो, सोचो, भिक्षुक-हृदय सदा का ही है सुख-वर्जित,
और कृपा के पात्र हुए भी तो क्या फल, तुम बारम्बार
सोचो, दो, न फेर कर को यदि हो अन्तर में कुछ भी प्यार।
अन्तस्तल के अधिकारी तुम, सिन्धु प्रेम का भरा अपार
अन्तर में, दो जो चाहे, हो बिन्दु सिन्धु उसका निःसार।
ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार!
बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे और कहाँ हैं ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।
(स्वामी विवेकानन्द जी के 'सखार प्रति' का अनुवाद।)

48. सेवा-प्रारम्भ

अल्प दिन हुए,
भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए।
जगी साधना
जन-जन में भारत की नवाराधना।
नई भारती
जागी जन-जन को कर नई आरती।
घेर गगन को अगणन
जागे रे चन्द्र-तपन-
पृथ्वी-ग्रह-तारागण ध्यानाकर्षण,
हरित-कृष्ण-नील-पीत-
रक्त-शुभ्र-ज्योति-नीत
नव नव विश्वोपवीत, नव नव साधन।
खुले नयन नवल रे–
ऋतु के-से मित्र सुमन
करते ज्यों विश्व-स्तवन

आमोदित किये पवन भिन्न गन्ध से।
अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद
दुर्धर शत-रथ-घर्घर विश्व-विजय-वाद।
स्थल-जल है समाच्छन्न
विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
तार-तार समुत्सन्न देश-महादेश,
निर्मित शत लौहयन्त्र
भीमकाय मृत्युतन्त्र
चूस रहे अन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष।
बढ़े समर के प्रकरण,
नये नये हैं प्रकरण,
छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
दर्प जहर, जर्जर नर,
स्वार्थपूर्ण गूँजा स्वर,
रहा है विरोध घहर इस-उस दल का।
बँधा व्योम, बढ़ी चाह,
बहा प्रखरतर प्रवाह,
वैज्ञानिक समुत्साह आगे,
सोये सौ-सौ विचार
थपकी दे बार-बार
मौलिक मन को मुधार जागे!
मैक्सिम-गन करने को जीवन-संहार
हुआ जहाँ, खुला वहीं नोब्ल-पुरस्कार!
राजनीति नागिनी
बसती है, हुई सभ्यता अभागिनी।
जितने थे यहाँ नवयुवक–
ज्योति के तिलक–
खड़े सहोत्साह,
एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह।
श्री 'विवेक','ब्रह्म','प्रेम','सारदा',
ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-धर्म-नर्मदा, –

वहीं विविध आध्यात्मिक धाराएँ
तोड़ गहन प्रस्तर की काराएँ,
क्षिति को कर जाने को पार,
पाने को अखिल विश्व का समस्त सार।
गृही भी मिले,
आध्यात्मिक जीवन के रूप में यों खिले।
अन्य ओर भीषण रव–यान्त्रिक झंकार–
विद्या का दम्भ,
यहाँ महामौनभरा स्तब्ध निराकार–
नैसर्गिक रंग।
बहुत काल बाद
अमेरिका-धर्ममहासभा का निनाद
विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी दरी,
गरजा भारत का वेदान्त-केसरी।
श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द
भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
बँधे भारती के जीवन से
गान गहन एक ज्यों गगन से,
आये भारत, नूतन शक्ति ले जगी
जाति यह रँगी।
स्वामी श्रीमदखण्डानन्द जी
एक और प्रति उस महिमा की,
करते भिक्षा फिर निस्सम्बल
भगवा-कौपीन-कमण्डलु-केवल,
फिरते थे मार्ग पर
जैसे जीवित विमुक्त ब्रह्म-शर।
इसी समय भक्त रामकृष्ण के
एक जमींदार महाशय दिखे।
एक दूसरे को पहचान कर
प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जान कर।
जमींदार अपने घर ले गये,

बोले–'कितने दयालु रामकृष्ण देव थे!
आप लोग धन्य हैं,
उनके जो ऐसे अपने, अनन्य हैं।'–
द्रवित हुए। स्वामी जी ने कहा, –
'नवद्वीप जाने की है इच्छा, –
महाप्रभु श्रीमच्चौतन्यदेव का स्थल
देखूँ, पर सम्यक निस्सम्बल
हूँ इस समय, जाता है पास तक जहाज,
सुना है कि छूटेगा आज!'
धूप चढ़ रही थी, बाहर को
जमींदार ने देखा, –घर को, –
फिर घड़ी, हुई उन्मन
अपने आफिस का कर चिन्तन,
उठे, गये भीतर,
बड़ी देर बाद आये बाहर,
दिया एक रूपया, फिर-फिरकर
चले गये आफिस को सत्वर।
स्वामी जी घाट पर गये,
'कल जहाज छूटेगा' सुनकर
फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार–
गंगा के तीर से चले।
चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
लम्बा रास्ता पैदल तै कर।
आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर, चले,
देखा, हैं दृश्य और ही बदले, –
दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार
बस्ती में–बैठे भी गीध महाकार,
आती बदबू रह-रह,

हवा बह रही व्याकुल कह-कह,
कहीं नहीं पहले की चहल-पहल,
कठिन हुआ यह जो था बहुत सहल।
सोचते व देखते हुए
स्वामीजी चले जा रहे थे।
इसी समय एक मुसलमान-बालिका
भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका,
घड़ा गिरा, फूटा,
देख बालिका का दिल टूटा,
होश उड़ गये,
काँपी वह सोच के,
रोई चिल्लाकर,
फिर ढाढ़ मार-मार कर
जैसे माँ-बाप मरे हों घर।
सुनकर स्वामी जी का हृदय हिला,
पूछा–'कह, बेटी, कह, क्या हुआ?'
फफक-फफक कर
कहा बालिका ने, –'मेरे घर
एक यही बचा था घड़ा,
मारेगी माँ सुनकर फूटा।'
रोई फिर वह विभूति कोई!
स्वामीजी ने देखीं आँखें–
गीली वे पाँखें,
करुण स्वर सुना,
उमड़ी स्वामीजी में करुणा।
बोले–'तुम चलो
घड़े की दूकान जहाँ हो,
नया एक ले दें,'
खिलीं बालिका की आँखें।
आगे-आगे चली
बड़ी राह होती बाजार की गली,

आ कुम्हार के यहाँ
खड़ी हो गई घड़े दिखा।
एक देखकर
पुख्ता सब में विशेषकर,
स्वामीजी ने उसे दिला दिया,
खुश होकर हुई वह विदा।
मिले रास्ते में लड़के
भूखों मरते।
बोली यह देख के, –'एक महाराज
आये हैं आज,
पीले-पीले कपड़े पहने,
होंगे उस घड़े की दूकान पर खड़े,
इतना अच्छा घड़ा
मुझे ले दिया!
जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ,
ले देंगे खाने को, खाओ।'
दौड़े लड़के,
तब तक स्वामीजी थे बातें करते,
कहता दूकानदार उनसे, –'हे महाराज,
ईश्वर की गाज
यहाँ है गिरी, है बिपत बड़ी,
पड़ा है अकाल,
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल।
कोई नहीं देता सहारा,
रहता हर एक यहाँ न्यारा,
मदद नहीं करती सरकार,
क्या कहूँ, ईश्वर ने ही दी है मार
तो कौन खड़ा हो?'
इसी समय आये वे लड़के,
स्वामी जी के पैरों आ पड़े।
पेट दिखा, मुँह को ले हाथ,

करुणा की चितवन से, साथ
बोले, –'खाने को दो,
राजों के महाराज तुम हो।'
चार आने पैसे
स्वामी के तब तक थे बचे।
चूड़ा दिलवा दिया,
खुश होकर लड़कों ने खाया, पानी पिया।
हँसा एक लड़का, फिर बोला–
'यहाँ एक बुढ़िया भी है, बाबा,
पड़ी झोपड़ी में मरती है, तुम देख लो
उसे भी, चलो।'
कितना यह आकर्षण,
स्वामीजी के उठे चरण।
लड़के आगे हुए,
स्वामी पीछे चले।
खुश हो नायक ने आवाज दी, –
'बुढ़िया री, आये हैं बाबा जी।'
बुढ़िया मर रही थी
गन्दे में फर्श पर पड़ी।
आँखों में ही कहा
जैसा कुछ उस पर बीता था।
स्वामीजी पैठे
सेवा करने लगे,
साफ की वह जगह,
दवा और पथ फिर देने लगे
मिलकर अफसरों से
भीग माग बड़े-बड़े घरों से।
लिखा मिशन को भी
दृश्य और भाव दिखा जो भी।
खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से,
एक रोज बोली, –'तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के।'

स्वामीजी ने कहा, –
'अबके की भी हो तुम मेरी माँ।'
49. नारायण मिलें हँस अन्त में
याद है वह हरित दिन
बढ़ रहा था ज्योति के जब सामने मैं
देखता
दूर-विस्तघ्त धूम्र-धूसर पथ भविष्यत का विपुल
आलोचनाओं से जटिल
तनु-तन्तुओं सा सरल-वक्र, कठोर-कोमल हास सा,
गम्य-दुर्गम मुख-बहुल नद-सा भरा।
थक गई थी कल्पना
जल-यान-दण्ड-स्थित खगी-सी
खोजती तट-भूमि सागर-गर्भ में,
फिर-फिरी थककर उसी दुःख-दण्ड पर।
पवन-पीड़ित पत्र-सा
कम्पन प्रथम वह अब न था।
शान्ति थी, सब
हट गये बादल विकल वे व्योम के।
उस प्रणय के प्रात के है आज तक
याद मुझको जो किरण
बाल-यौवन पर पड़ी थी,
नयन वे
खींचते थे चित्र अपने सौख्य के।
श्रान्ति और प्रतीति की
चल रही थी तूलिकाय
विश्व पर विश्वास छाया था नया।
कल्प-तरु के, नये कोंपल थे उगे।
हिल चुका हूँ मैं हवा में, हानि क्या
यदि झड़ूँ, बहता फिरूँ मैं अन्तहीन प्रवाह में
तब तक न जब तक दूर हो निज ज्ञान–
नारायण मिलें हँस अन्त में।`

50. प्रकाश
रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग-मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम?
और लगाना गले उन्हें–
जो धूलि-धूसरित खड़े हुए हैं–
कब से प्रियतम, है भ्रम?
हुई दुई में अगर कहीं पहचान
तो रस भी क्या–
अपने ही हित का गया न जब अनुमान?
है चेतन का आभास
जिसे, देखा भी उसने कभी किसी को दास?
नहीं चाहिए ज्ञान
जिसे, वह समझा कभी प्रकाश?

51. नर्गिस
(1)
बीत चुका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर
डूब चुका पश्चिम में, तारक-प्रदीप-कर
स्निग्ध-शान्त-दृष्टि सन्ध्या चली गई मन्द-मन्द
प्रिय की समाधि-ओर, हो गया है रव बन्द
विहगों का नीड़ों पर, केवल गंगा का स्वर
सत्य ज्यों शाश्वत सुन पड़ता है स्पष्ट तर,
बहता है साथ गत गौरव का दीर्घ काल
प्रहत-तरंग-कर-ललित-तरल-ताल।
चौत्र का है कृष्ण पक्ष, चन्द्र तृतीया का आज
उग आया गगन में, ज्योत्स्ना तनु-शुभ्र-साज
नन्दन की अप्सरा धरा को विनिर्जन जान
उतरी सभय करने को नैश गंगा-स्नान।
तट पर उपवन सुरम्य, मैं मौनमन
बैठा देखता हूँ तारतम्य विश्व का सघन,
जान्हवी को घेर कर आप उठे ज्यों करार

त्यों ही नभ और पृथ्वी लिये ज्योत्स्ना ज्योतिर्धार,
सूक्ष्मतम होता हुआ जैसे तत्व ऊपर को
गया, श्रेष्ठ मान लिया लोगों ने महाम्बर को,
स्वर्ग त्यों धरा से श्रेष्ठ, बड़ी देह से कल्पना,
श्रेष्ठ सृष्टि स्वर्ग की है खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना।
(2)
युवती धरा का यह था भरा वसन्त-काल,
हरे-भरे स्तनों पर पड़ी कलियों की माल,
सौरभ से दिक्कुमारियों का मन सींचकर
बहता है पवन प्रसन्न तन खींचकर।
पृथ्वी स्वर्ग से ज्यों कर रही है होड़ निष्काम
मैंने फेर मुख देखा, खिली हुई अभिराम
नर्गिस, प्रणय के ज्यों नयन हों एकटक
मुख पर लिखी अविश्वास की रेखाएँ पढ़
स्नेह के निगड़ में ज्यों बँधे भी रहे हैं कढ़।
कहती ज्यों नर्गिस–'आई जो परी पृथ्वी पर
स्वर्ग की, इसी से हो गई है क्या सुन्दरतर?
पार कर अन्धकार आई जो आकाश पर,
सत्य कहो, मित्र, नहीं सकी स्वर्ग प्राप्त कर?
कौन अधिक सुन्दर है–देह अथवा आँखें?
चाहते भी जिसे तुम–पक्षी वह या कि पाँखें?
स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर?'
बही हवा नर्गिस की, मन्द छा गई सुगन्ध,
धन्य, स्वर्ग यही, कह किये मैंने दृग बन्द।

52. नासमझी

समझ नहीं सके तुम,
हारे हुए झुके तभी नयन तुम्हारे, प्रिय।
भरा उल्लास था हृदय में मेरे जब, –
काँपा था वक्ष,
तब देखी थी तुमने

मेरे मल्लिका के हार की
कम्पन, सौन्दर्य को!

53. उक्ति (जला है जीवन यह)

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घकाल,
सूखी भूमि, सूखे तरु,
सूखे सिक्त आलबाल,
बन्द हुआ गुंज, धूलि–
धूसर हो गये कुंज,
किन्तु पड़ी व्योम उर
बन्धु, नील–मेघ–माल।

54. सहज

सहज–सहज पग धर आओ उतरय
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।
वह जो सिर बोझ लिये आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस–उससे बतला रहा,
देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर
उनके दिल की धड़कन से मिली
होगी तस्वीर जो कहीं खिली,
देखूँ मैं भी, वह कुछ भी हिली
तुम्हें देखने पर, भीतर–भीतर?

55. और और छबि

(गीत)
और और छबि रे यह,
नूतन भी कवि, रे यह
और और छबि!
समझ तो सही
जब भी यह नहीं गगन
वह मही नहीं,
बादल वह नहीं जहाँ

छिपा हुआ पवि, रे यह
और और छबि।
यज्ञ है यहाँ,
जैसा देखा पहले होता अथवा सुनाय
किन्तु नहीं पहले की,
यहाँ कहीं हवि, रे यह
और और छबि!

56. मेरी छबि ला दो
(गीत)
मेरी छबि उर-उर में ला दो!
मेरे नयनों से ये सपने समझा दो!
जिस स्वर से भरे नवल नीरद,
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गदगद,
जिस स्वर-वर्षा ने भर दिये सरित-सर-सागर,
मेरी यह धरा धन्य हुई भरा नीलाम्बर,
वह स्वर शर्मद उनके कण्ठों में गा दो!
जिस गति से नयन-नयन मिलते,
खिलते हैं हृदय, कमल के दल-के-दल हिलते,
जिस गति की सहज सुमति जगा जन्म-मृत्यु-विरति
लाती है जीवन से जीवन की परमारति,
चरण-नयन-हृदय-वचन को तुम सिखला दो!

57. वारिद वंदना
(गीत)
मेरे जीवन में हँस दीं हर
वारिद-झर!
ऐ आकुल-नयने!
सुरभि, मुकुल-शयने!
जागीं चल-श्यामल पल्लव पर
छवि विश्व की सुघर!
पावन-परस सिहरीं,
मुक्त-गन्ध विहरीं,

लहरीं उर से उर दे सुन्दर
तनु आलिंगन कर!
अपनापन भूला,
प्राण-शयन झूला,
बैठीं तुम, चितवन से संचर
छाये घन अम्बर!

3

गीतिका: सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

1. रँग गई पग-पग धन्य धरा
रँग गई पग-पग धन्य धरा, –
हुई जग जगमग मनोहरा।
वर्ण गन्ध धर, मधु मरन्द भर,
तरु-उर की अरुणिमा तरुणतर
खुली रूप - कलियों में पर भर
स्तर स्तर सुपरिसरा।
गूँज उठा पिक-पावन पंचम
खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम,
सुख के भय काँपती प्रणय-क्लम
वन श्री चारुतरा।

2. सखि, वसन्त आया
सखि वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी–

पिक-स्वर नभ सरसाया।
लता-मुकुल-हार-गंध-भार भर,
बही पवन बंद मंद मंदतर,
जागी नयनों में वन-
यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अंचल
पृथ्वी का लहराया।

3. प्रिय यामिनी जागी
प्रिय यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख
तरुण-अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित-
द्युति ने क्षमा माँगी।
हेर उर-पट फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-नेह की जय-माल,
वासना की मुक्ति मुक्ता
त्याग में तागी।

4. मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा
मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर, खिल न सकेगा ?
जग दूषित बीज नष्ट कर,
पुलक-स्पन्द भर खिला स्पष्टतर,
कृपा समीरण बहने पर क्या,
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा ?

मेरे दु:ख का भार, झुक रहा,
इसलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर क्या,
महाभार यह झिल न सकेगा ?
"प्यार के अभाव में मेरी जिंदगी
एक वीराना बन कर रह गयी है
अगर तुम देख लो, यह सँवर जाये।"

5. मातृ वंदना

नर जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ
मेरे श्रम सिंचित सब फल।
जीवन के रथ पर चढ़कर
सदा मृत्यु पथ पर बढ़ कर
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर,
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रु जल धौत विमल
दृग जल से पा बल बलि कर दूँ
जननि, जन्म श्रम संचित पल।
बाधाएँ आएँ तन पर
देखूँ तुझे नयन मन भर
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर,
क्लेद युक्त, अपना तन दूंगा
मुक्त करूंगा तुझे अटल
तेरे चरणों पर दे कर बलि
सकल श्रेय श्रम संचित फल

6. भारती वन्दना

भारति, जय, विजय करे
कनक-शस्य-कमल धरे!
लंका पदतल-शतदल

गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण-युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे!
तरु-तण वन-लता-वसन
अंचल में खचित सुमन
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार लगे!
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार
प्राण प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शतमुख-शतरव-मुखरे!

7. नयनों के डोरे लाल
नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरी खेली होली !
प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस कस कसक मसक गई चोली,
एक वसन रह गई मंद हँस अधर-दशन अनबोली
कली-सी काँटे की तोली !
मधु-ऋतु-रात मधुर अधरों की पी मधुअ सुधबुध खो ली,
खुले अलक मुंद गए पलक-दल श्रम-सुख की हद हो ली–
बनी रति की छवि भोली!

8. रूखी री यह डाल
रुखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी
देख खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर माला जप
शैल-सुता अपर्ण - अशना,
पल्लव -वसना बनेगी-
वसन वासन्ती लेगी
हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत-कूलों का,
स्नेह, सरस भर देगा उर-सर,
स्मर हर को वरेगी
वसन वासन्ती लेगी

मधु-व्रत में रत वधू मधुर फल
देगी जग की स्वाद-तोष-दल,
गरलामृत शिव आशुतोष-बल
विश्व सकल नेगी,
वसन वासन्ती लेगी

9. घन, गर्जन से भर दो वन
घन, गर्जन से भर दो वन
तरु-तरु-पादप-पादप-तन।
अबतक गुँजन-गुँजन पर
नाचीं कलियाँ छबि-निर्भरय
भौंरों ने मधु पी-पीकर
माना, स्थिर मधु-ऋतु कानन।
गरजो, हे मन्द्र, बज्र-स्वर,
थर्राये भूधर-भूधर,
झरझर झरझर धारा झर
पल्लव-पल्लव पर जीवन।

10. रे, न कुछ हुआ तो क्या ?
रे, कुछ न हुआ, तो क्या ? जग धोका, तो रो क्या ?
सब छाया से छाया,
नभ नीला दिखलाया,
तू घटा और बढ़ा
और गया और आया,
होता क्या, फिर हो क्या ?
रे, कुछ न हुआ तो क्या ?
चलता तू, थकता तू,
रुक-रुक फिर बकता तू,
कमजोरी दुनिया हो, तो
कह क्या सकता तू ?
जो धुला, उसे धो क्या ?
रे, कुछ न हुआ तो क्या ?

11. कौन तम के पार ?
कौन तम के पार ?– (रे, कह)
अखिल पल के स्रोत, जल-जग,
गगन घन-घन-धार–(रे, कह)
गंध-व्याकुल-कूल- उर-सर,
लहर-कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज बारम्बार !– (रे, कह)
उदय मेम तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन,
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख -धान
सार या कि असार ?– (रे, कह)
बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल,
द्रवित जल निहार !– (रे, कह)

12. अस्ताचल रवि
अस्ताचल रवि, जल छलछल-छवि,
स्तब्ध विश्वकवि, जीवन उन्मन,
मंद पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।
दूर नदी पर नौका सुन्दर
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर,
वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की
बिना गेह की बैठी नूतन।
ऊपर शोभित मेघ-छत्र सित,
नीचे अमित नील जल दोलित,
ध्यान-नयन मन-चिंत्य-प्राण-धन,
किया शेष रवि ने कर अर्पण।

13. दे, मैं करूँ वरण
दे, मैं करूँ वरण

जननि, दु:खहरण पद-राग-रंजित मरण।
भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण।
लांछना इंधन, हृदय-तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पारकर जीवन-प्रलोभन समुपकरण।
प्राण संघात के सिन्धु के तीर मैं
गिनता रहूँगा न कितने तरंग हैं,
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण।

14. अनगिनित आ गए शरण में
अनगिनित आ गए शरण में जन, जननि, –
सुरभि-सुमनावली खुली, मधुऋतु अवनि !
स्नेह से पंक-उर
हुए पंकज मधुर,
ऊर्ध्व-दृग गगन में
देखते मुक्ति-मणि !
बीत रे गई निशि,
देश लख हँसी दिशि,
अखिल के कण्ठ की
उठी आनन्द-ध्वनि !

15. पावन करो नयन !
रश्मि, नभ-नील-पर,
सतत शत रूप धर,
विश्व-छवि में उतर,
लघु-कर करो चयन !
प्रतनु, शरदिन्दु-वर,
पद्म-जल-बिन्दु पर,
स्वप्न-जागृति सुघर,
दु:ख-निशि करो शयन !

16. वर दे वीणावादिनी वर दे !
वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव
भारत में भर दे !
काट अंध-उर के बंधन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे !
नव गति, नव लय, ताल-छंद नव
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव,
नव नभ के नव विहग-वृंद को
नव पर, नव स्वर दे !
वर दे, वीणावादिनि वर दे।

17. बन्दूँ, पद सुन्दर तव
बन्दूँ, पद सुंदर तव,
छंद नवल स्वर-गौरव।
जननि, जनक-जननि-जननि,
जन्मभूमि-भाषे !
जागो, नव अम्बर-भर,
ज्योतिस्तर-वासे !
उठे स्वरोर्मियों-मुखर
दिककुमारिका-पिक-रव।
दृग-दृग को रंजित कर
अंजन भर दो भर–
बिंधे प्राण पंचबाण
के भी, परिचय शर।
दृग-दृग की बँधी सुछबि
बाँधें सचराचर भव !

18. जग का एक देखा तार
जग का एक देखा तार।
कंठ अगणित, देह सप्तक,

मधुर-स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हारय
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा-भार।
गंध-शत अरविंद-नंदन विश्व-वंदन-सार,
अखिल-उर-रंजन निरंजन एक अनिल उदार।
सतत सत्य, अनादि निर्मल सकल सुख-विस्तार,
अयुत अधरों में सुसिंचित एक किंचित प्यार।
तत्त्व-नभ-तम में सकल-भ्रम-शेष, श्रम-निस्तार,
अलक-मंदल में यथा मुख-चन्द्र निरलंकार।

19. टूटें सकल बंध
टूटें सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध।
रुद्ध जो धार रे
शिखर-निर्झर झरे
मधुर कलरव भरे
शून्य शत-शत रन्ध्र।
रश्मि ऋजु खींच दे
चित्र शत रंग के,
वर्ण-जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध।

20. बुझे तृष्णाशा-विषानल
बुझे तृष्णाशा-विषानल झरे भाषा अमृत-निर्झर,
उमड़ प्राणों से गहनतर छा गगन लें अवनि के स्वर।
ओस के धोए अनामिल पुष्प ज्यों खिल किरण चूमे,
गंध-मुख मकरंद-उर सानन्द पुर-पुर लोग घूमे,
मिटे कर्षण से धरा के पतन जो होता भयंकर,
उमड़ प्राणों से निरन्तर छा गगन लें अवनि के स्वर।
बढ़े वह परिचय बिंधा जो क्षुद्र भावों से हमारा,
क्षिति-सलिल से उठ अनिल बन देख लें हम गगन-कारा,
दूर हो तम-भेद यह जो वेद बनकर वर्ण-संकर,
पार प्राणों से करें उठ गगन को भी अवनि के स्वर।

21. प्रात तव द्वार पर
प्रात तव द्वार पर,
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।
लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कंटक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्तवर–
प्रात तव द्वार पर।
समझा क्या वे सकेंगे भीरु मलिन-मन,
निशाचर तेजहत रहे जो वन्य जन,
धन्य जीवन कहाँ, –मातः, प्रभात-धन
प्राप्ति को बढ़ें जो गहें तव पद अमर–
प्रात तव द्वार पर।

4

निराला की काव्यभाषा

निराला जी लगातार भाषा से जलते रहे। उन्होंने भाषा को अनुभूति से जोड़ा। शब्द की आत्मा से तादात्म्य स्थापित किया। उनके काव्य प्रयोगों की विविधता और मौलिकता ने अनेक काव्य आयाम को जन्म दिया और एकही स्तर पर विविध भाषा प्रयोग कर सके। निराला जी के शब्दों की कुल जीवनी शक्ति से अपने संवेदना का तादात्म्य बनाकर सार्थक शब्दों की खोज उन्हें पूरी तरह से रचना में उतार लाते हैं। भाव के आवेग के साथ उनका पूरा जीवन घुल मिल जाता है और जो काव्य रचना होती है वह निराला की पूरी जीवन शक्ति का संश्लेषण जाती है। भाव के अनुसार भाषा और लय का निर्वाह करने वाले निराला प्रचंड प्राण शक्ति, दुर्दमनीय जिजीविषा तथा सूक्ष्म संवेदन के कवि है। रे मनुष्य और सृष्टि के मूल तक जाकर रस ग्रहण करते हैं और भिक्षुक, विधवा तोड़ती पत्थर जैसी रचनाओं द्वारा अपने भावों का मार्जन करते हैं। निराला जी संवेदना को लेकर भाषा से जुड़ते हैं। वह मानवीय अस्तित्व को उसकी सघनता और जटिलता में उदगीर्ण करने वाली होती है। इस प्रकार आत्म संघर्ष की मन स्थितियों के जितने आवर्त निराला में दिखाई देते हैं, उतने अन्य किसी कवि में देखने को नहीं मिलती। इसलिए उनकी काव्य भाषा छायावादी कवियों में सबसे अलग रूप से प्रमुखता से उभर कर आती है।

जीवन में जहां विरोधाभास है, वहां काव्य की विरोधाभासों से अछूता रह सका और जीवन के विरोधाभासों का बदला निराला के काव्य में विरोधाभासों का स्रजन कर लिया। कुछ बेतुके अटपटे और विचित्र से लगने वाले शब्द प्रयोगों में भी गहरी भाव संकुल का भीतरी तादात्म्य और अंतरिक साम्य में होता है। जहां

शब्दों की यथार्थ ऑर्गन अनुभूति के साथ शब्द पूरी सत्ता के साथ मौजूद रहता है क्योंकि छायावाद की दृष्टि अंतरंग होने के कारण वहां समस्त हो और एक दूसरे पर अवलंबित होकर अंतरिक की व्यंजना करते हैं। मुकुटधर पांडे के अनुसार "यह अंतरंग दृष्टि ही छायावाद की विचित्र प्रकाशन आरती का मूल है, उसमें किसी दृश्य का ज्यों का त्यों चित्र उतारा जाता है। पर शब्द ऐसे वेगों वाले प्रयुक्त किए जाते हैं कि भाषा उड़ती हुई जान पड़ती है।" भाषा की संगति और गहनता देखने के लिए एक विशेष दृष्टि चाहिए जो चमत्कारिकता से दूर मूल में बैठती हो। निराला जी की रचनाओं में भीतर का उद्वेग शब्दों की लयात्मकता में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि वहां अलग से किसी चमत्कारिकता का प्रदर्शन नहीं होता और रचना एकान्विती द्वारा अर्थबोध देती हुई अपने आवर्त खोलती है।

प्रारंभिक काव्य में जिस प्रकार की भाव और शिल्पा की विविधता दृष्टिगत होती है वैसी ही विविधता का रंग अंतिम चरणों में भी दिखाई देता है। इस तरह निराला ने काव्य भाषा को मुक्त पर एक ऐसी भाषा का प्रणयन किया है जो अनुभूति के स्तर की है। उन्होंने भाषा में शब्दों के लिए नए संयोजन, छंद के नए-नए प्रयोग, शब्दों की उचित संगति आदि के साथ पुरानी लीक से हटकर शब्दों और वाक्यों के संबंधों की आधारशिला को नए सिरे से रखा है वे किसी भी भाव अथवा भाषिक शब्दों से परहेज नहीं करती। हिंदी के स्वभाव अनुकूल ले में ढाल कर उन्हें नई भाषिक व्यंजना प्रदान करना निराला का स्वभाव है जो हिंदी की अभिव्यंजना समृद्धि के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। जहां कहीं भी निराला को अनुरूप अभिव्यंजना दिखी चाहे वह धातुज रूप में हो अथवा 'ठेठ' ग्रामीण शब्दों में' झट से उसे हिंदी में ले आए और हिंदी को नए सौंदर्य से मंडित कर हिंदी का शब्द भंडार और उसकी व्यंजना शक्ति को भर दिया। "निराला की भाषा के विविध स्त्रोत एक ओर संस्कृत कवि जयदेव है तो दूसरी ओर तुलसीदास और तीसरी ओर रविंद्र हैं। निराला ने अपने श्रृंगार इक काव्य में जयदेव की सामासिक पदावली एकाएक सीमा तक अनुसरण किया है। यह शायरी वास्तव में उनके वीर रस के काव्य में और विशेषकर राम की शक्ति पूजा और तुलसीदास में मुखर है"। इस प्रकार की शैली 'बुद्ध के प्रति' रचना में तथा परवर्ती काव्य में कुछ गीतों में भी दिखाई देती है इस प्रकार विभिन्न दिशाओं में अपनी प्रतिभा के सुमन सौरभ उदगीर्ण करते हुए निराला निरंतर विकास करके गए हैं।

तत्सम शब्दावली

समस्त छायावादी कवियों में विशेषता निराला ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग बहुलता से किया। इसका मुख्य कारण कोमल कांत पदावली की रचना और उदात्त गंभीर भावों की अभिव्यक्ति का समाहार करना था। फलस्वरूप कवि अपने कृत्य को तीव्रता से निष्पादित करता हुआ पाठक के समक्ष उदात्त चित्र खींच पाता है।

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी -स्नेहा- सपना- मग्न
अमल- कोमल -तनु तरुणी- जूही की कली"

यह भाषा की एक जनता ने चित्र को तो स्पष्ट किया है साथ में जूही की कली की कोमलता का भी एहसास करा दिया वह शक्ति है। निराला की भाषा में राम की शक्ति पूजा और तुलसीदास तत्सम बहुल रचनाएं हैं। चीन के भाषा संगठन को हम तुलसीदास की विनय पत्रिका में भाषा सौष्ठव से जोड़कर देखे तो यह हद तक साम्य पाएंगे। निराला ने सामाजिक पदावली में अन्य कवियों की तरह केवल श्रंगार और मधुर भाव की ही अभिव्यक्ति नहीं की वरन् पुरुषों को भी अभिव्यक्त पर उन्होंने भाषा की सामर्थ को आगे बढ़ाया है।

इन प्रयोगों का अर्थ पुरानी पद्धति द्वारा लगाए जाने पर एक असंप्राकृत जान पड़ेगी क्योंकि हिंदी क्रिया द्वारा निराला ने शब्दों को नई अर्थवता प्रदान की है। संस्कृत की ध्वनि रंजना के कारण तत्सम शब्दावली में समासों का प्रयोग भी बहुत तथ्यों से हुआ है। उनकी समाज योजना संक्षिप्त में विशाल था कि द्योतक है। इस गुण के कारण एक-एक शब्द अर्थ खंड की तरह अभाषित होता है। इस प्रकार निराला अपनी काव्य रचना हेतु संस्कृत की शब्दावली का सहारा लेकर नई भाषा रचते हैं किंतु पूर्णत: उसकी अनुकरता बनकर नहीं बल्कि आवश्यकता के महत्व को पहचानते हैं।

देशज शब्द

दरअसल कुछ भी नजर आए ऐसी होती है जिन्हें सहज रूप में देशज शब्द ही व्यक्त कर पाते हैं। वहां वितरित होने के लिए अनिवार्य हो जाते हैं। इस अनिवार्यता को ही प्रमुख मानते हुए निराला बेला, नए पत्ते, आराधना आदि संग्रहों में इन शब्दों का खूब प्रयोग करते हैं और सफलता से करते हैं। ऐसे

स्थलों पर जहां देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां भाषा का प्रवाह एक विलक्षन संयोजन पैदा करता है। किन शब्दों का प्रयोग निराला ने इस कलात्मकता से किया है कि वह गहरे अर्थ से भर उठे हैं। इस प्रकार के शब्द रचना में अन्य शब्दों के साथ अद्‌भुत सामने रखते हुए पूर्णत: खप जाते हैं। "तद्‌भव या देशज होने से भले ही इतने प्रतिष्ठित ना हो जितने कुछ तत्सम है। फिर भी ज्यादा पाठक सरस रचनाओं में जैसी शब्दावली चाहते हैं, उसमें भी खप जाते हैं, के विपरित ऐसे बहुत से शब्द है जो व्यवहार में आते हैं किंतु जिन्हें कविता में खपाना बहुत मुश्किल है। मधुर पदावली में तो वे खपते ही नहीं, जहां कर्कश प्रभाव उत्पन्न करता हो, वहां भी उन्हें जमाने में कठिनाई होगी।" पारस्परिक तालमेल से निष्पन्न निराला की जन-पदीय शब्द अपना अलग अलग ही महत्व रखते हैं। बल्कि इस तरह के प्रयोग निराला काव्य को एक नई बन जाना तथा काव्य सौष्ठव प्रदान करते हैं।

यदि वह भाव प्रसंग को पूर्ण रूप से व्यक्त करता है तो निराला उस शब्द के प्रयोग से ही हिचकीचाएंगे नहीं, क्योंकि वह भाव व्यंजकता पर अधिक महत्व देते हैं।

अंग्रेजी शब्द प्रयोग

निराला ने चौन में लिखा है संसार की हर भाषा स्वाधीन चाल से ही चलकर और भिन्न-भिन्न भाषा से ही शब्द लेकर अपना भंडार भर्ती है। हिंदी की अभिव्यंजना शक्ति की समृद्धि में भी भिन्न-भिन्न भाषाओं की नेमी का सहयोग रहा है। हिंदी के इस्तेमाल से भाषा में विविधता आई है और भावव्यंजकता बड़ी है। अंग्रेजी बांग्ला उर्दू या किसी भी उन्नत भाषा की और हिंदी की रुचि का होना उसकी प्राथमिक उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक था। इसके बिना उसकी संकीर्ण शब्द भंडार की पूर्ति असंभव थी। उसका सामाजिक जीवन भी कितना उन्नत नहीं है कि उसका चित्र एक-दूसरे उन्नत सामाजिक क्षेत्र की क्षमता कर सकें।

निराला की पूर्ववर्ती काव्य में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत अल्प है। किंतु परवर्ती का विशेषकर कुकुरमुत्ता में ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। ऐसे स्थानों पर जहां अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां भी भाषा अभी पूर्ण और व्यंजन की तीव्रता लिए दिखाई पड़ती है।

नवीन शब्द प्रयोग

निराला ने कभी ध्वन्यात्मकता का आधार लेकर तो कभी सामने पर और कभी संख्या विशेषताओं को जोड़कर अनेक मौलिक शब्दों की रचना की है। हरीआई, कलीआई, आदमी आदि शब्द प्रयोग को मौलिक शब्द का प्रयोग ही कहेंगे। इस तरह के शब्द प्रयोग अन्य काव्य संग्रह में भी आए हैं। दु:ख के समय पर अनेक नवीन शब्दों का सृजन भी निराला ने किया है "कुछ नए शब्द जो भाव परिणीति की सहायता से अद्‌भुत हुए हैं तलमल, नंम्र मुखी, वालहक, लुप्त मधु संकुल चकचौंधी आदि शब्द है। कुछ शब्द प्रयोगों में अनावश्यक क्रियाएं छोड़ दी गई है। परिचित क्रिया पदों पर स्वराघात देकर उनमें नई व्यंजना और अर्थवता भरने का प्रयास किया गया है" एक प्रयोग कवियों की परिष्कृत अभिरुचि और आधुनिक साहित्य सौंदर्य चेतना की प्रति सजगता के फलस्वरूप पन्ना हुए हैं जैसा कि डॉक्टर नाम और सिंह लिखते हैं कि "भाऊ की समुचित अभिव्यंजना के लिए भाषा को समर्थ बनाने रतलामी छायावादी कवियों को कभी-कभी नए शब्द भी करनी पड़ी। निसंदेह यह शब्द संस्कृत की प्रकृति प्रत्यय के आधार पर ही चले गए परंतु ऊपर से तत्सम प्रतीत होते हुए भी वस्तुत: आधुनिक है।"

संगीतात्मक शब्दावली

निराला शब्दों को उस छोर पर जाकर पकड़ते हैं जहां उसके भीतर सघन स्वर कवि के मोहन संगीत को ध्वनित कर सके, यही कारण है कि उनकी भाषा में ध्वन्यात्मकता तथा संगीतात्मकता अधिक पाई जाती है। जैसा कि रामविलास शर्मा ने लिखा है - "छंद की गति में हेरफेर करने वाले निराला धनिक प्रवाह से कविता के अर्थ को निखारते और पुष्ट करते हैं" बादल राग जागो फिर एक बार इस प्रकार की नई रचनाएं हैं। ध्वनि प्रवाह की भंगिमाओं द्वारा क्रियाओं को भी किस प्रकार चित्रित करते हैं

झुक -झुक, तन-तन फिर झूम- झूम हंस-हंस झकोर
चीर -परिचित चित्रवन, दाल सहज मुखड़ा मरोर
भर मुर्हुमुहर तन-गंध विमल बोली बेला

संगीत शास्त्र के मर्मज्ञ होने के कारण संगीतीक शब्दावली का प्रयोग उन्होंने खुब किया। कई रचनाओं में इस प्रकार के शब्द प्रयोग देखे जा सकते हैं। वर दे वीणावादिनी वर दे में इन शब्दों की नई गति लय और ताल दृष्टव्य है।

शब्दों के अंत संगीत को महत्व प्रदान करते हुए उसमें निहित नाद सौंदर्य को साकार करने की प्रवृत्ति और भी अधिक दिखाई देती है। निराला सभी स्वर संगीत और कभी व्यंजन संगीत द्वारा चित्र को मूर्त करते हैं।

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर"

वास्तव में शब्दों के अर्थ से जो चित्र बनते हैं, उनसे मिलते-जुलते चित्र निराला ध्वनि से बनाते हैं इस प्रकार उनके काव्य में ध्वन्यात्मक संगीतात्मक का उत्कर्ष सहज ही देखा जा सकता है। इसी से भाषा विकसित होती है "कोई भी उच्चरित शब्द किसी न किसी तरह का नैरंतर्य माँगता है।"

निष्कर्ष

कभी-कभी वे किसी शब्द की प्रति आशक्त भी हुए हैं और उसे बार-बार मैं अर्थों में दोहराते चले गए है। हर संग्रह में उनकी यह आशक्ति नवीन शब्दों के प्रति रही है जिसे हम उनकी भाव परिणीति और वैचारिक सूझ- बूझ ही कहेंगे। परिमल में मौन शब्द का प्रयोग बार-बार लक्ष्य किया जा सकता है और अर्चना में प्रयुक्त नील तथा नयाना शब्द की आवृत्ति कवि दृष्टि की अनंतता का बोल देती है। इस प्रकार गीत गूंज में ज्योति के साथ-साथ शाम शब्द की आवृत्ति भी अनेक बार हुई है। एक रचना श्याम विराजे में पंद्रह पंक्तियों में बीस बार शाम शब्द का प्रयोग अर्थ व्यंजना का मनोरम उदाहरण है। यह रचना शब्दों के प्रति निराला की सजगता विकसित चेतना और पांडित्य का उद्‌घाटन करती है। "निराला के शब्द अनेक प्रकार की है क्योंकि उनमें प्रवृत्ति बहुलता है। उनकी पदावली विराटता का बोध कराती है कहीं विद्रोह का और कहीं गुढता का" कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भाषा की सजगता और विविधता जितनी निराला के काव्य में उपलब्ध है, उतनी ना केवल अन्य छायावादी कवियों में बल्कि किसी भी आधुनिक कवि में संभवपूर्ण दिखाई नहीं देती, इसलिए निराला के काव्य में भाषा के अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं।

5

निराला का भाषागत संघर्ष

तुलसीदास के बाद हिन्दी साहित्य में निराला ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने भारतीय काव्य मनीषा को ठीक से समझकर उसे युग अनुरूप प्रेरणादायी बनाया था। जैसे तुलसी ने फारसी के आतंक से हिन्दी को मुक्त कर भाषा के स्तर पर इतने प्रयोग किए कि वह हिन्दी साहित्य के लिए उपयोगी बन गयी। उन्होंने संस्कृत की कठिन शब्दावली को सहज और जनप्रिय छन्दों में ढाला, यही कारण है कि रामचरित मानस के प्रत्येक काण्ड का प्रारम्भ वे बोधगम्य संस्कृत में करते हैं। निराला ने भाषा और छन्द के स्तर पर हिन्दी में जो प्रयोग किए उन्हें तुलसीदास के प्रयोग से जोड़कर देखना उचित है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के युग के बाद और विशेषकर सरस्वती के प्रकाशन का वह कालखण्ड जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। निराला भी इसी कालखण्ड में लेखन प्रारम्भ करते हैं। द्विवेदी जी जिस हिन्दी को विकसित करने में लगे रहे महाप्राण निराला जैसे अनेक साहित्यकारों और साहित्य प्रेमियों ने अपना सर्वस्व अर्पण किया। उसी हिन्दी को आगे बढाने का दायित्व वर्तमान पीढ़ियों का है। यह पितृऋण हमारे ऊपर है। इससे उऋण हुए बिना न तो हमारी मुक्ति है और न ही राष्ट्र की।

हिन्दी जिस रूप में आज हमारे सामने है, उसमें निराला का बहुत बड़ा योगदान है। हीन ग्रंथि से पीडत हिन्दी समाज को अपनी भाषा और साहित्य पर इसलिए स्वाभिमान होना चाहिए क्योंकि उसके पास विश्व का सबसे बड़ा कवि तुलसीदास है। उन्हें इसलिए भी गौरव होना चाहिए क्योंकि उनके पास सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जैसा साहित्यकार और पत्रकार उपलब्ध है। लेकिन यह दु:खद

पक्ष है कि आज हिन्दी भाषी समाज इन मूल्यवान बिन्दुओं पर विचार नहीं कर रहा है। हमारा सोच इस स्तर तक कैसे पहुँच गया। इस पर विचार करते हुए निराला ने "सुधा" पत्रिका के सम्पादकीय में सन् 1935 में लिखा था –"हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी के पीछे तो अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है पर हिन्दी भाषियों ने उनकी तरफ वैसा ध्यान नहीं दिया - शतांश भी नहीं। वे साहित्यिक इस समय जिन कठिनता का सामना कर रहे हैं, उसे देखकर किसी भी सहृदय की आँखों में आँसू आ जाएँगे। बदले में उन्हें अनधिकारी साहित्यिकों से लाँछन और असंस्कृत जनता से अनादर प्राप्त हो रहा है।

निराला का जन्म 21 फरवरी सन् 1899 में महिषादल में हुआ था। यह स्थान आज के बंगलादेश में आता है। यह समय देश की आजादी के लिए संघर्ष का समय था। अंग्रेज जान-बूझकर भारतीय संस्कृति और भाषा को नष्ट करने में लगे हुए थे। अंग्रेजों की रणनीति का यह महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा है कि वे जहाँ भी शासन करते थे, वहाँ की भाषाओं को नष्ट कर देते थे। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं "साम्राज्यवाद से जहाँ भी बन पड़ा, उसने न केवल भाषाओं का, वरन् उन्हें बोलने वाली जातियों का भी नाश किया। अमरीकी महाद्वीपों में अजतेक और इंका जनों की सभ्यताएँ अत्यन्त विकसित थीं। अब वहाँ उनके ध्वंसावशेष ही रह गए हैं। रेड इंडियन जनों से उनकी भूमि छीन ली गयी, अमरीकी विश्वविद्यालयों में उनकी भाषाएँ शिक्षा का माध्यम नहीं है। अमरीकी नीग्रो अंग्रेजी बोलते हैं, उनके पुरखे कौन-सी भाषा बोलते थे, यह वे नहीं जानते। दक्षिणी अफ्रिका, रोडेशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जहाँ भी साम्राज्यवादियों से बन पड़ा। उन्होंने गुलाम बनाए हुए देशों के मूल निवासियों का नाश किया, उनकी भाषाओं और संस्कृतियों का दमन किया।"

एक महान् चिन्तक की तरह निराला अपने समय की स्थिति पर निगाह रखे हुए थे तथा अपनी कविताओं और लेखों के द्वारा भारतीय जनमानस को यह बता रहे थे कि अंग्रेजी की पक्षधरता उन्हें कहाँ ले जाएगी। सन् 1930 में सुधा के सम्पादकीय में उन्होंने लिखा, "भारतवर्ष अंग्रेजों की साम्राज्य लालसा सर्वप्रधान ध्येय रहा है। यहाँ की सभ्यता और संस्कृति अंग्रेजों की सभ्यता और संस्कृति से बहुत कम मेल खाती थी, पर सात समुद्र पार से आकर इतने विस्तृत और इतने सभ्य देश में राज्य करना जिन अंग्रेजों को अभीष्ट था, वे बिना अपनी कूटनीति का प्रयोग किए कैसे रह सकते थे ' अंग्रेजों की नीति हुई - भारत के इतिहास को विकृत कर दो और हो सके तो उसकी भाषा को मिटा दो। भारतीय

सभ्यता और संस्कृति तुलना में नीची दिखायी जाने लगीं। हमारी भाषाएँ गँवारू असाहित्यिक और अविकसित बताई जाने लगी। हमारा प्राचीन इतिहास अंधकार में डाल दिया गया। बकायदा अंग्रेजी की पढ़ाई होने लगी। इस देश का शताब्दियों से अंधकार में पड़ा हुआ जन समाज समझने लगा कि जो कुछ है, अंग्रेजी सभ्यता है, अंग्रेजी साहित्य है और अंग्रेज हैं।"

निराला हिन्दी और संस्कृत के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे "अनामिका" नाम की कविता संग्रह में "मित्र के प्रति" कविता में उनके भाव देखे जा सकते हैं -

जला है जीवन यह आतप में दीर्घकाल
सूखी भूमि, सूखे तरु, सूखे शिक्त आलाव
बन्द हुआ गूँज, धूलि धूसर हो गए कुंज,
किन्तु पड़ी व्योम-उर बन्धु, नील-मेघ-माल।

जो काम देश की आजादी के लिए क्रांतिकारी लोग अपने स्तर पर कर रहे थे। साहित्य और भाषा के स्तर पर यही संघर्ष निराला लड़ रहे थे और इससे भी अधिक वे दोनों स्तरों पर काम कर रहे थे। पूरे स्वतंत्रता आंदोलन में किसानों का जो एक मात्र आंदोलन हुआ था। इस आंदोलन में निराला ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। निराला के जीवन पर केन्द्रित पुस्तक "निराला की साहित्य साधना भाग-1, 2 एवं 3 में डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला के भाषागत संघर्ष का सुन्दर चित्रण किया है। इस पुस्तक के विषय में कहा जाता है कि किसी कवि पर केन्द्रित विश्व की उत्कृष्ट रचना है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं" जला है जीवन यह - निराला का जीवन जला है, हिन्दी का जीवन जला है। निराला के मन की आशाएँ, उल्लास, विषाद्, निराशा, वीरतापूर्ण कर्म, त्रास, दु:स्वप्न यह सब कुछ कहीं-न-कहीं हिन्दी के इस आन्तरिक संघर्ष से जुड़ा हुआ है। निराला के बिना हिन्दी का यह संघर्ष नहीं समझा जा सकता, इस संघर्ष के बिना निराला नहीं समझे जा सकते, न व्यक्तित्व न कृतित्व। निराला का जीवन हिन्दीमय है, हिन्दी उनके लिए साहित्य साधना का माध्यम है। अपने में यह साध्य है। भारत देश और इस देश की जनता की तरह निराला की आस्था, श्रद्धा, सर्वाधिक प्रेम का अधिष्ठान है भाषा। असह्य पीडा के क्षणों में वह सारा दु:ख "यह हिन्दी का प्रेमोपहार कह कर स्वीकार करते हैं।" (निराला की साहित्य साधना भाग-2, पृष्ठ 172)

हिन्दी को लेकर निराला उस समय के सबसे बड़े नेताओं से भी बातचीत कर अपनी चिन्ताएँ व्यक्त करते रहे। उन्होंने महात्मा गाँधी से भी हिन्दी के विकास को लेकर बातचीत की। गाँधी जी हिन्दी के प्रबल पक्षधर थे। स्वतंत्रता आन्दोलन में लगे हुए नेताओं में गाँधी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो राजनैतिक आजादी को भाषागत आजादी से जोडकर देख रहे थे और यह कह रहे थे –"मेरा नम्र लेकिन यह अभिप्राय है कि जब तक हम भाषा को राष्ट्रीय और अपनी भाषाओं प्रान्तों में उनका योग्य स्थान नहीं देंगे, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं। (सन् 1935 में इन्दौर में दिए गए भाषण से) गाँधी के इसी देश में आज का ज्ञान आयोग यह मानता है कि बिना अंग्रेजी के राष्ट्र का विकास असम्भव है। ज्ञान आयोग और चाहे जो कुछ भी सोचे किन्तु उसका यह सोच गाँधी और निराला की भाँति राष्ट्र के उन्नयन की बात नहीं सोच रहा है। इसी भाँति वे पंडित जवाहरलाल नेहरू से भी हिन्दी के चिन्तन को लेकर आमने-सामने हुए। इस घटना का चित्रण करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है। (यह चित्रण उस समय का है जब रावी नदी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ली गई थी जिसकी खुशी में पूरे देश में कार्यक्रम आयोजित हो रहे थे जिनमें भाग लेने के लिए राष्ट्रीय नेता पूरे देश का भ्रमण कर रहे थे)" जनता से विदा होने और गाड़ी के चलने पर जब नेहरू जी भीतर आकर बैठे तब निराला ने शुरू किया – 'आपसे कुछ बातें करने की गरज से अपनी जगह से यहाँ आया हुआ हूँ।'

नेहरू ने कुछ नहीं कहा। निराला ने अपना परिचय दिया। फिर हिन्दुस्तानी का प्रसंग छेड़ा, सूक्ष्म भाव प्रकट करने में हिन्दुस्तानी की असमर्थता जाहिर की। फिर एक चुनौती दी – 'मैं हिन्दी के कुछ वाक्य आपको दूँगा जिनका अनुवाद आप हिन्दुस्तानी जबान में कर देंगे, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। इस वक्त आपको समय नहीं। अगर इलाहाबाद में आप मुझे आज्ञा करें, तो किसी वक्त मिलकर मैं आपसे उन पंक्तियों के अनुवाद के लिए निवेदन करूँ।'

जवाहरलाल नेहरू ने चुनौती स्वीकार न की, समय देने में असमर्थता प्रकट की। निराला ने दूसरा प्रसंग छेड़ा। समाज के पिछड़ेपन की बात की, ज्ञान से सुधार करने का सूत्र पेश किया। हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल हिन्दी के नये साहित्य में जितना सही पाया जायगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं – निराला ने अपने व्यावहारिक वेदान्त कर गुर समझाया।

निराला ने कहा – 'पंडित जी, यह मामूली अफसोस की बात नहीं कि आप जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति इस प्रान्त में होते हुए भी इस प्रान्त की मुख्य भाषा हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ हैं।' किसी दूसरे प्रान्त का राजनीतिक व्यक्ति ऐसा नहीं। सन् 1930 के लगभग श्री सुभाष बोस ने लाहौर के विद्यार्थियों के बीच भाषण करते हुए कहा था कि बंगाल के कवि पंजाब के वीरों के चरित्र गाते हैं। उन्हें अपनी भाषा का ज्ञान और गर्व है। महात्मा गाँधी के लिए कहा जाता है कि गुजराती को उन्होंने नया जीवन दिया है। बनारस के जिन साहित्यिकों की मण्डली म आपने दरबारी कवियों का उल्लेख किया कि, उनमें से तीन को मैं जानता हूँ। तीनों अपने-अपने विषय के हिन्दी के प्रवर्तक हैं। प्रसाद जी काव्य और नाटक-साहित्य के, प्रेमचन्द जी कथा-साहित्य के और रामचन्द्र जी शुक्ल आलोचना-साहित्य के। आप ही समझिए कि इनके बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख कितना हास्यास्पद हो सकता है। एक तो हिन्दी के साहित्यिक साधारण श्रेणी के लोग हैं, एक हाथ से वार झेलते, दूसरे से खिलते हुए, दूसरे आप जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों की मैदान में वे मुखालिफत करते देखते हैं। हमने जब काम शुरू किया था, हमारी मुखालिफत हुई थी। आज जब हम कुछ प्रतिष्ठित हुए, अपने विरोधियों से लड़ते, साहित्य की दृष्टि करते हुए, तब किन्हीं मानी में हम आपको मुखालिफत करते देखते हैं। यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं, साहित्य और साहित्यिक के लिए। हम वार झेलते हुए सामने आए ही थे कि आपका वार हुआ। हम जानते हैं कि हिन्दी लिखने के लिए कलम हाथ में लेने पर, बिना हमारे कहे फैसला हो जायगा कि बड़े से बडा प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एक जानकार साहित्यिक के मुकाबले कितने पानी में ठहरता है। लेकिन यह तो बताइए, जहाँ सुभाष बाबू, अगर मैं भूलता नहीं, अपने सभापति के अभिभाषण में शरतचन्द्र के निधन का जिक्र करते हैं, वहाँ क्या वजह है जो आपकी जुबान पर प्रसाद का नाम नहीं आता। मैं समझता हूँ, आपसे छोटे नेता भी सुभाष बाबू के जोड़ के शब्दों में कांग्रेस में प्रसाद जी पर शोक-प्रस्ताव पास नहीं कराते। क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्त्व की दृष्टि से प्रसाद कितने महान् हैं '

जवाहरलाल एकटक निराला को देखते रहे। ऐसा धाराप्रवाह भाषण सुनाने वाले जीवन में ये उन्हें पहले व्यक्ति मिले थे, अगला स्टेशन अभी आया न था। सुनते जाने के सिवा चारा न था।

निराला को प्रेमचन्द याद आये। बोले – 'प्रेमचन्द जी पर भी वैसा प्रस्ताव पास नहीं हुआ जैसा शरत्चन्द्र पर।'

नेहरू ने टोका – 'नहीं, जहाँ तक याद है, प्रेमचन्द जी पर तो एक शोक-प्रस्ताव पास किया गया था।'

निराला ने अपनी बात स्पष्ट की – 'जी हाँ, यह मैं जानता हूँ, लेकिन उसकी वैसी महत्ता नहीं जैसी शरत्चन्द वाले की है।'

आखिर अयोध्या स्टेशन आ गया। निराला ने आखिरी बात कही – 'अगर मौका मिला तो आपसे मिलकर फिर साहित्यिक प्रश्न निवेदित करूँगा।'

नेहरू ने इसका कोई उत्तर न दिया।

नमस्कार करके निराला उतरे और अपने डिब्बे में आ गये। प्लेटफार्म महात्मा गाँधी की जय, पं. जवाहरलाल नेहरू की जय से गूँजता रहा। (निराला की साहित्य साधना, भाग-1, पृष्ठ क्रमांक 318 से 320)।

निराला के लिए न तो कोई व्यक्ति बड़ा था और न ही पद। उनके व्यक्ति की यह सबसे बड़ी ताकत थी कि वे किसी से डरते भी न थे। भाषा और साहित्य के लिए किसी से भी भिड़ सकते थे और भिड़े भी।

'वर दे वीणा वादिनी।' सरस्वती वन्दना से हमारे सांस्कृतिक कार्यक्रम शुरू होते हैं। इस वन्दना में प्रयुक्त नवगति, नवलय, तालछन्द नव 33. नव पर नव स्वर दे माँगने वाले इस अमर गायक की वेदना अभी भी हिन्दी भाषी समाज और हिन्दी के पक्षधर पूरी तरह नहीं समझ सके हैं। निराला ने माँ सरस्वती से सारी नवीनता हिन्दी के लिए ही माँगी थी क्योंकि उनके लिए जीवन का एकमात्र उद्देश्य हिन्दी भाषा और उसका साहित्य था। अपने जीवन की संध्या में वे कहते हैं –"ताक रहा है भीष्म सरों की कठिन सेज से"। नि:सन्देह निराला हिन्दी के भीष्म पितामह थे। इन प्रसंगों में हिन्दी को सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए महाभारत अभी शेष है। इससे लड़ते रहना ही निराला के प्रति सादर कृतज्ञता होगी।

6

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला कहानी

लिली– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

पद्मा के चन्द्र-मुख पर षोड़श कला की शुभ्र चन्द्रिका अम्लान खिल रही है। एकान्त कुंज की कली-सी प्रणय के वासन्ती मलयस्पर्श से हिल उठती, विकास के लिए व्याकुल हो रही है।

पद्मा की प्रतिभा की प्रशंसा सुनकर उसके पिता ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट पण्डित रामेश्वरजी शुक्ल उसके उज्ज्वल भविष्य पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ किया करते हैं। योग्य वर के अभाव से उसका विवाह अब तक रोक रखा है। मैट्रिक परीक्षा में पद्मा का सूबे में पहला स्थान आया था। उसे वृत्ति मिली थी। पत्नी को, योग्य वर न मिलने के कारण विवाह रूका हुआ है, शुक्लजी समझा देते हैं। साल-भर से कन्या को देखकर माता भविष्य-शंका से कांप उठती हैं।

पद्मा काशी विश्वविद्यालय के कला-विभाग में दूसरे साल की छात्रा है। गर्मियों की छुट्टी है, इलाहाबाद घर आयी हुई है। अबके पद्मा का उभार, उसका रंग-रूप, उसकी चितवन-चलन-कौशल-वार्तालाप पहले से सभी बदल गये हैं। उसके हृदय में अपनी कल्पना से कोमल सौन्दर्य की भावना, मस्तिष्क में लोकाचार से स्वतन्त्र अपने उच्छृंखल आनुकूल्य के विचार पैदा हो गये हैं। उसे निस्संकोच चलती - फिरती, उठती-बैठती, हँसती-बोलती देखकर माता हृदय के बोलवाले तार से कुछ और ढीली तथा बेसुरी पड़ गयी हैं।

एक दिन सन्ध्या के डूबते सूर्य के सुनहले प्रकाश में, निरभ्र नील आकाश के नीचे, छत पर, दो कुर्सियाँ डलवा माता और कन्या गंगा का रजत-सौन्दर्य

एकटक देख रही थी। माता पद्मा की पढ़ाई, कॉलेज की छात्राओं की संख्या, बालिकाओं के होस्टल का प्रबन्ध आदि बातें पूछती हैं, पद्मा उत्तर देती है। हाथ में है हाल की निकली स्ट्रैंड मैगजीन की एक प्रति। तस्वीरें देखती जाती है। हवा का एक हलका झोंका आया, खुले रेशमी बाल, सिर से साड़ी को उड़ाकर, गुदगुदाकर, चला गया। 'सिर ढक लिया करो, तुम बेहया हुई जाती हो।' माता ने रूखाई से कहा। पद्मा ने सिर पर साड़ी की जरीदार किनारी चढ़ा ली, आँखें नीची कर किताब के पन्ने उलटने लगी।

'पद्मा!' गम्भीर होकर माता ने कहा।

'जी!' चलते हुए उपन्यास की एक तस्वीर देखती हुई नम्रता से बोली।

मन से अपराध की छाप मिट गयी, माता की वात्सल्य-सरिता में कुछ देर के लिए बाढ़-सी आ गयी, उठते उच्छ्वास से बोली, 'कानपुर में एक नामी वकील महेशप्रसाद त्रिपाठी हैं।'

'हूँ' एक दूसरी तस्वीर देखती हुई।

'उनका लड़का आगरा युनिवर्सिटी से एम। ए। में इस साल फर्स्ट क्लास फर्स्ट आया है।'

'हूँ' पद्मा ने सिर उठाया। आँखें प्रतिभा से चमक उठीं।

'तेरे पिताजी को मैंने भेजा था, वह परसों देखकर लौटे हैं। कहते थे, लड़का हीरे का टुकड़ा, गुलाब का फूल है। बातचीत दस हजार में पक्की हो गयी है।'

'हूँ' मोटर की आवाज पा पद्मा उठकर छत के नीचे देखने लगी। हर्ष से हृदय में तरंगें उठने लगीं। मुस्किराहट दबाकर आप ही में हँसती हुई चुपचाप बैठ गयी।

माता ने सोचा, लड़की बड़ी हो गयी है, विवाह के प्रसंग से प्रसन्न हुई है। खुलकर कहा, 'मैं बहुत पहले से तेरे पिताजी से कह रही थी, वह तेरी पढ़ाई के विचार में पड़े थे।'

नौकर ने आकर कहा, 'राजेन बाबू मिलने आये हैं।'

पद्मा की माता ने एक कुर्सी डाल देने के लिए कहा। कुर्सी डालकर नौकर राजेन बाबू को बुलाने नीचे उतर गया। तब तक दूसरा नौकर रामेश्वरजी का भेजा हुआ पद्मा की माता के पास आया। कहा, 'जरूरी काम से कुछ देर के लिए पण्डितजी जल्द बुलाते हैं।'

जीने से पद्मा की माता उतर रही थीं, रास्ते में राजेन्द्र से भेंट हुई। राजेन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। पद्मा की माता ने कन्धे पर हाथ रखकर आशिर्वाद दिया और कहा, 'चलो, पद्मा छत पर है, बैठो, मैं अभी आती हूँ।'

राजेन्द्र जज का लड़का है, पद्मा से तीन साल बड़ा, पढ़ाई में भी। पद्मा अपराजिता बड़ी-बड़ी आँखों की उत्सुकता से प्रतीक्षा में थी, जब से छत से उसने देखा था।

'आइए, राजेन बाबू, कुशल तो है?' पद्मा ने राजेन्द्र का उठकर स्वागत किया। एक कुर्सी की तरफ बैठने के लिए हाथ से इंगित कर खड़ी रही। राजेन्द्र बैठ गया, पद्मा भी बैठ गयी।

'राजेन, तुम उदास हो!'

'तुम्हारा विवाह हो रहा है?' राजेन्द्र ने पूछा।

पद्मा उठकर खड़ी हो गयी। बढ़कर राजेन्द्र का हाथ पकड़कर बोली, 'राजेन, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं? जो प्रतिज्ञा मैंने की है, हिमालय की तरह उस पर अटल रहूँगी।'

पद्मा अपनी कुर्सी पर बैठ गयी। मैगजीन खोल उसी तरह पन्नों में नजर गड़ा दी। जीने से आहट मालूम दी।

माता निगरानी की निगाह से देखती हुई आ रही थीं। प्रकृति स्तब्ध थी। मन में वैसी ही अन्वेषक चपलता।

'क्यों बेटा, तुम इस साल बी। ए। हो गये?' हँसकर पूछा।

'जी हाँ।' सिर झुकाये हुए राजेन्द्र ने उत्तर दिया।

'तुम्हारा विवाह कब तक करेंगे तुम्हारे पिताजी, जानते हो?'

'जी नहीं।'

'तुम्हारा विचार क्या है?'

'आप लोगों से आज्ञा लेकर विदा होने के लिए आया हूँ, विलायत भेज रहे हैं पिताजी।' नम्रता से राजेन्द्र ने कहा।

'क्या बैरिस्टर होने की इच्छा है?' पद्मा की माता ने पूछा।

'जी हाँ।'

'तुम साहब बनकर विलायत से आना और साथ एक मेम भी लाना, मैं उसकी शुद्धि कर लूँगी।' पद्मा हँसकर बोली।

नौकर ने एक तश्तरी पर दो प्यालों में चाय दी – दो रकाबियों पर कुछ बिस्कुट और केक। दूसरा एक मेज उठा लिया। राजेन्द्र और पद्मा की कुर्सी के

बीच रख दी, एक धुली तौलिया ऊपर से बिछा दी। सासर पर प्याले तथा रकाबियों पर बिस्कुट और केक रखकर नौकर पानी लेने गया, दूसरा आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

'मैं निश्चय कर चुका हूँ, जबान भी दे चुका हूँ। अबके तुम्हारी शादी कर दूँगा।' पण्डित रामेश्वरजी ने कन्या से कहा।

'लेकिन मैंने भी निश्चय कर लिया है, डिग्री प्राप्त करने से पहले विवाह न करूँगी।' सिर झुकाकर पद्मा ने जवाब दिया।

'मैं मैजिस्ट्रेट हूँ बेटी, अब तक अक्ल ही की पहचान करता रहा हूँ, शायद इससे ज्यादा सुनने की तुम्हें इच्छा न होगी।' गर्व से रामेश्वरजी टहलने लगे।

पद्मा के हृदय के खिले गुलाब की कुल पंखड़िया हवा के एक पुरजोर झोंके से काँप उठीं। मुक्ताओं-सी चमकती हुई दो बूँदें पलकों के पत्रों से झड़ पड़ी। यही उसका उत्तर था।

'राजेन जब आया, तुम्हारी माता को बुलाकर मैंने जीने पर नौकर भेज दिया था, एकान्त में तुम्हारी बातें सुनने के लिए। तुम हिमालय की तरह अटल हो, मैं भी वर्तमान की तरह सत्य और दृढ़।'

रामेश्वरजी ने कहा, 'तुम्हें इसलिए मैंने नहीं पढ़ाया कि तुम कुल-कलंक बनो।'

'आप यह सब क्या कह रहे हैं?'

'चुप रहो। तुम्हें नहीं मालूम? तुम ब्राह्मण-कुल की कन्या हो, वह क्षत्रिय-घराने का लड़का है- ऐसा विवाह नहीं हो सकता।' रामेश्वरजी की साँस तेज चलने लगीं, आँखें भौंहों से मिल गयीं।

'आप नहीं समझे मेरे कहने का मतलब।' पद्मा की निगाह कुछ उठ गयी।

'मैं बातों का बनाना आज दस साल से देख रहा हूँ। तू मुझे चराती है? वह बदमाश!'

'इतना बहुत है। आप अदालत के अफसर है! अभी-अभी आपने कहा था, अब तक अक्ल की पहचान करते रहे हैं, यह आपकी अक्ल की पहचान है! आप इतनी बड़ी बात राजेन्द्र को उसके सामने कह सकते हैं? बतलाइए, हिमालय की तरह अटल सुन लिया, तो इससे आपने क्या सोचा?'

आग लग गयी, जो बहुत दिनों से पद्मा की माता के हृदय में सुलग रही थी।

'हट जा मेरी नजरों से बाहर, मैं समझ गया।' रामेश्वर जी क्रोध से काँपने लगे।

'आप गलती कर रहे हैं, आप मेरा मतलब नहीं समझे, मैं भी बिना पूछे हुए बतलाकर कमजोर नहीं बनना चाहती।'

पद्मा जेठ की लू में झुलस रही थी, स्थल पद्म-सा लाल चेहरा तम-तमा रहा था। आँखों की दो सीपियाँ पुरस्कार की दो मुक्ताएँ लिये सगर्व चमक रही थीं।

रामेश्वरजी भ्रम में पड़ गये। चक्कर आ गया। पास की कुर्सी पर बैठ गये। सर हथेली से टेककर सोचने लगे। पद्मा उसी तरह खड़ी दीपक की निष्कम्प शिखा-सी अपने प्रकाश में जल रही थी।

'क्या अर्थ है, मुझे बता।' माता ने बढ़कर पूछा।

'मतलब यह, राजेन को सन्देह हुआ था, मैं विवाह कर लूँगी - यह जो पिताजी पक्का कर आये हैं, इसके लिए मैंने कहा था कि मैं हिमालय की तरह अटल हूँ, न कि यह कि मैं राजन के साथ विवाह करूँगी। हम लोग कह चुके थे कि पढ़ाई का अन्त होने पर दूसरी चिन्ता करेंगे।'

पद्मा उसी तरह खड़ी सीधे ताकती रही।

'तू राजेन को प्यार नहीं करती?' आँख उठाकर रामेश्वरजी ने पूछा।

'प्यार? करती हूँ।''

'करती है?'

'हाँ, करती हूँ।''

'बस और क्या?'

'पिता!'

पद्मा की आबदार आँखों से आँसुओं के मोती टूटने लगे, जो उसके हृदय की कीमत थे, जिनका मूल्य समझनेवाला वहाँ कोई न था।

माता ने ठोढ़ी पर एक उँगली रख रामेश्वरजी की तरफ देखकर कहा, 'प्यार भी करती है, मानती भी नहीं, अजीब लड़की है।'

'चुप रहो।' पद्मा की सजल आँखें भौंहों से सट गयीं, 'विवाह और प्यार एक बात है? विवाह करने से होता है, प्यार आप होता है। कोई किसी को प्यार करता है, तो वह उससे विवाह भी करता है? पिताजी जज साहब को प्यार करते हैं, तो क्या इन्होंने उनसे विवाह भी कर लिया है?'

रामेश्वरजी हँस पड़े।

रामेश्वरजी ने शंका की दृष्टि से डाक्टर से पूछा, 'क्या देखा आपने डाक्टर साहब?'

'बुखार बड़े जोर का है, अभी तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

जिस्म की हालत अच्छी नहीं, पूछने से कोई जवाब भी नहीं देती। कल तक अच्छी थी, आज एकाएक इतने जोर का बुखार, क्या सबब है?' डॉक्टर ने प्रश्न की दृष्टि से रामेश्वरजी की तरफ देखा।

रामेश्वरजी पत्नी की तरफ देखने लगे।

डाक्टर ने कहा, 'अच्छा, मैं एक नुस्खा लिखे देता हूँ, इससे जिस्म की हालत अच्छी रहेगी। थोड़ी-सी बर्फ मँगा लीजिएगा। आइस-बैग तो क्यों होगा आपके यहाँ?एक नौकर मेरे साथ भेज दीजिए, मैं दे दूँगा। इस वक्त एक सौ चार डिग्री बुखार है। बर्फ डालकर सिर पर रखिएगा। एक सौ एक तक आ जाय, तब जरूरत नहीं।'

डॉक्टर चले गये। रामेश्वरजी ने अपनी पत्नी से कहा, 'यह एक दूसरा फसाद खड़ा हुआ। न तो कुछ कहते बनता है, न करते। मैं कौम की भलाई चाहता था, अब खुद ही नकटों का सिरताज हो रहा हूँ। हम लोगों में अभी तक यह बात न थी कि ब्राह्मण की लड़की का किसी क्षत्रिय लड़के से विवाह होता। हाँ, ऊँचे कुल की लड़कियाँ ब्राह्मणों के नीचे कुलों में गयी हैं। लेकिन, यह सब आखिर कौम ही में हुआ है।'

'तो क्या किया जाय?' स्फारित, स्फुरित आँखें, पत्नी ने पूछा।

'जज साहब से ही इसकी बचत पूछूंगा। मेरी अक्ल अब और नहीं पहुँचती। अरे छीटा!'

'जी!' छीटा चिलम रखकर दौड़ा।

'जज साहब से मेरा नाम लेकर कहना, जल्द बुलाया है।'

'और भैया बाबू को भी बुला लाऊँ?''

'नहीं-नहीं।' रामेश्वरजी की पत्नी ने डांट दिया।

जज साहब पुत्र के साथ बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। इंग्लैंड के मार्ग, रहन-सहन, भोजन-पान, अदब-कायदे का बयान कर रहे थे। इसी समय छीटा बँगले पर हाजिर हुआ और झुककर सलाम किया। जज साहब ने आँख उठाकर पूछा, 'कैसे आये छीटाराम?'

'हुजूर को सरकार ने बुलाया है और कहा है, बहुत जल्द आने के लिए कहना।'

'क्यों?'

'बीबी रानी बीमार हैं, डाक्टर साहब आये थे और हुजूर बाकी छीटा ने कह ही डाला था।

'और क्या?'

'हुजूर' छीटा ने हाथ जोड़ लिये। उसकी आँखें डबडबा आयीं।

जज साहब बीमारी कड़ी समझकर घबरा गये! ड्राइवर को बुलाया। छीटा चल दिया। ड्राइवर नहीं था। जज साहब ने राजेन्द्र से कहा, 'जाओ, मोटर ले आओ। चलें, देखें, क्या बात है।'

राजेन्द्र को देखकर रामेश्वरजी सूख गये। टालने की कोई बात न सूझी। कहा, 'बेटा, पद्मा को बुखार आ गया है, चलो, देखो, तब तक मैं जज साहब से कुछ बातें करता हूँ।'

राजेन्द्र उठ गया। पद्मा के कमरे में एक नौकर सिर पर आइस-बैग रक्खे खड़ा था। राजेन्द्र को देखकर एक कुर्सी पलंग के नजदीक रख दी।

'पद्मा!'

'राजेन!'

पद्मा की आँखों से टप-टप गर्म आँसू गिरने लगे। पद्मा को एकटक प्रश्न की दृष्टि से देखते हुए राजेन्द्र ने रूमाल से उसके आँसू पोंछ दिये।

सिर पर हाथ रक्खा, बड़े जोर से धड़क रही थी।

पद्मा ने पलकें मूंद ली, नौकर ने फिर सिर पर आइस-बैग रख दिया।

सिरहाने थरमामीटर रक्खा था। झाड़कर, राजेन्द्र ने आहिस्ते से बगल में लगा दिया। उसका हाथ बगल से सटाकर पकड़े रहा। नजर कमरे की घड़ी की तरफ थी।

निकालकर देखा, बुखार एक सौ तीन डिग्री था।

अपलक चिन्ता की दृष्टि से देखते हुए राजेन्द्र ने पूछा, 'पद्मा, तुम कल तो अच्छी थीं, आज एकाएक बुखार कैसे आ गया?'

पद्मा ने राजेन्द्र की तरफ करवट ली, कुछ न कहा।

'पद्मा, मैं अब जाता हूँ।'

ज्वर से उभरी हुई बड़ी-बड़ी आँखों ने एक बार देखा और फिर पलकों के पर्दे में मौन हो गयीं।

अब जज साहब और रामेश्वरजी भी कमरे में आ गये।

जज साहब ने पद्मा के सिर पर हाथ रखकर देखा, फिर लड़के की तरफ निगाह फेरकर पूछा, 'क्या तुमने बुखार देखा है?'

'जी हाँ, देखा है।'

'कितना है?'

'एक सौ तीन डिग्री।'

'मैंने रामेश्वरजी से कह दिया है, तुम आज यही रहोगे। तुम्हें यहाँ से कब जाना है? - परसों न?'

'जी।'

'कल सुबह बतलाना घर आकर, पद्मा की हालत-कैसी रहती है और रामेश्वरजी, डॉक्टर की दवा करने की मेरे खयाल से कोई जरूरत नहीं।'

'जैसा आप कहें।' सम्प्रदान-स्वर से रामेश्वरजी बोले।

जज साहब चलने लगे। दरवाजे तक रामेश्वरजी भी गये। राजेन्द्र वहीं रह गया। जज साहब ने पीछे फिरकर कहा, 'आप घबराइए मत, आप पर समाज का भूत सवार है।' मन-ही-मन कहा, 'कैसा बाप और कैसी लड़की!'

तीन साल बीत गये। पद्मा के जीवन में वैसा ही प्रभात, वैसा ही आलोक भरा हुआ है। वह रूप, गुण, विद्या और ऐश्वर्य की भरी नदी, वैसी ही अपनी पूर्णता से अदृश्य की ओर, वेग से बहती जा रही है। सौन्दर्य की वह ज्योति-राशि स्नेह-शिखाओं से वैसी ही अम्लान स्थिर है। अब पद्मा एम. ए. क्लास में पढ़ती है।

वह सभी कुछ है, पर वह रामेश्वरजी नहीं हैं। मृत्यु के कुछ समय पहले उन्होंने पद्मा को एक पत्र में लिखा था, 'मैंने तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी की हैं, पर अभी तक मेरी एक भी इच्छा तुमने पूरी नहीं की। शायद मेरा शरीर न रहे, तुम मेरी सिर्फ एक बात मानकर चलो- राजेन्द्र या किसी अपर जाति के लड़के से विवाह न करना। बस।'

इसके बाद से पद्मा के जीवन में आश्चर्यकर परिवर्तन हो गया। जीवन की धारा ही पलट गयी। एक अद्भुत स्थिरता उसमें आ गयी। जिस गति के विचार ने उसके पिता को इतना दुर्बल कर दिया था, उसी जाति की बालिकाओं को अपने ढंग पर शिक्षित कर, अपने आदर्श पर लाकर पिता की दुर्बलता से प्रतिशोध लेने का उसने निश्चय कर लिया।

राजेन्द्र बैरिस्टर होकर विलायत से आ गया। पिता ने कहा, 'बेटा, अब अपना काम देखो।' राजेन्द्र ने कहा, 'जरा और सोच लूँ, देश की परिस्थिति ठीक नहीं।'

'पद्मा!' राजेन्द्र ने पद्मा को पकड़कर कहा।

पद्मा हँस दी। 'तुम यहाँ कैसे राजेन?' पूछा।

'बैरिस्टरी में जी नहीं लगता पद्मा, बड़ा नीरस व्यवसाय है, बड़ा बेदर्द। मैंने देश की सेवा का व्रत ग्रहण कर लिया है और तुम?'

'मैं भी लड़कियाँ पढ़ाती हूँ - तुमने विवाह तो किया होगा?'

'हाँ, किया तो है।' हँसकर राजेन्द्र ने कहा।

पद्मा के हृदय पर जैसे बिजली टूट पड़ी, जैसे तुषार की प्रहत पद्मिनी क्षण भर में स्याह पड़ गयी। होश में आ, अपने को सँभालकर कृत्रिम हँसी रँगकर पूछा,

'किसके साथ किया?'

'लिली के साथ।' उसी तरह हँसकर राजेन्द्र बोला।

'लिली के साथ!' पद्मा स्वर में काँप गयी।

'तुम्हीं ने तो कहा था-विलायत जाना और मेम लाना।'

पद्मा की आँखें भर आयीं।

हँसकर राजेन्द्र ने कहा, 'यही तुम अंग्रेजी की एम.ए. हो? लिली के मानी?'

चतुरी चमार– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

चतुरी चमार डाकखाना चमियानी मौजा गढ़कला, उन्नाव का एक कदीमी बाशिंदा है। मेरे नहीं, मेरे पिताजी के बल्कि उनके पूर्वजों के भी मकान के पिछवाड़े कुछ फासले पर, जहाँ से होकर कई और मकानों के नीचे और ऊपरवाले पनालों का, बरसात और दिन-रात का शुद्धाशुद्ध जल बहता है। ढाल से कुछ ऊँचे एक बगल चतुरी चमार का पुश्तैनी मकान है। मेरी इच्छा होती है, चतुरी के लिए गौरवे बहुवचनम् लिखूँ, क्योंकि साधारण लोगों के जीवनचरित या ऐसे ही कुछ लिखने के लिए सुप्रसिद्ध संपादक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी द्वारा दिया हुआ आचार्य द्विवेदीजी का प्रोत्साहन पढ़कर मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गई है, पर एक अड़चन है, गाँव के रिश्ते में चतुरी मेरा भतीजा लगता है। दूसरों के लिए वह श्रद्धेय अवश्य है, क्योंकि अपने उपानह-साहित्य में आजकल के अधिकांश साहित्यिकों की तरह अपरिवर्तनवादी है। वैसे ही देहात में दूर-दूर तक उसके मजबूत जूतों की तारीफ है। पासी हफ्ते में तीन दिन हिरन, चौगड़े और बनैले सुअर खदेड़कर फाँसते हैं। किसान अरहर की ठूँठियों पर ढोर भगाते हुए दौड़ाते

हैं–कँटीली झाड़ियों को दबाकर चले जाते हैं। छोकड़े बेल, बबूल, करील और बेर के काँटों से भरे रुँधवाए बागों से सरपट भागते हैं, लोग जेंगरे पर मड़नी करते हैं, द्वारिका नाई न्योता बाँटता हुआ दो साल में दो हजार कोस से ज्यादा चलता है। चतुरी के जूते अपरिवर्तनवाद के चुस्त रूपक जैसे टस-से-मस नहीं होते। यह जरूर है कि चतुरी के जूते जिला बाँदा के जूतों से वजन में हल्के बैठते हैं, संभव है, चित्रकूट के इर्द-गिर्द होने के कारण वहाँ के चर्मकार भाइयों पर रामजी की तपस्या का प्रभाव पड़ा हो, इसलिए उनका साहित्य ज्यादा ठास हुआ, चतुरी वगैरह लखनऊ के नजदीक होने के कारण नवाबों के साये में आए हों।

उन दिनों मैं गाँव में रहता था। घर बगल में होने के कारण बैठे हुए ही मालूम कर लिया कि चतुरी चतुर्वेदी आदिकों से संत-साहित्य का अधिक मर्मज्ञ है। केवल चिट्ठी लिखने का ज्ञान न होने के कारण एक क्रिय होकर भी भिन्न फल है–वे पत्र और पुस्तकों के संपादक हैं, यह जूतों का। एक रोज मैंने चतुरी आदि के लिए चरस मँगवाकर अपने ही दरवाजे बैठक लगवाई। चतुरी उम्र में मेरे चाचाजी से कुछ छोटा होगा, कई घरों के लड़के-बच्चे समेत 'चरस-रसिक रघुपति-पद-नेहू' लोध आदि के सहयोग से मजीरेदार डफलियाँ लेकर वह रात आठ बजे आकर डट गया। कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, पल्टूदास आदि ज्ञात-अज्ञात अनेकानेक संतों के भजन होने लगे। पहले मैं निर्गुण शब्द का केवल अर्थ लिया करता था, लोगों को 'निर्गुण पद है' कहकर संगीत की प्रशंसा करते हुए सुनकर हँसता था, अब गंभीर हो जाया करता हूँ–जैसे उम्र की बाढ़ के साथ अक्ल बढ़ती है! मैं मचिया पर बैठकर भजन सुनने लगा।

चतुरी आचार्य-कंठ से लोगों को भूले पदों की याद दिला दिया करता। मुझे मालूम हुआ, चतुरी कबीर-पदावली का विशेषज्ञ है। मुझसे उसने कहा, 'काका, ये निर्गुण-पद बड़े-बड़े विद्वान् नहीं समझते।' फिर शायद मुझे भी उन्हीं विद्वानों की कोटि में शुमार कर बोला, 'इस पद का मतलब?' मैंने उतरे गले से बात काटकर उभड़ते हुए कहा, 'चतुरी, आज गा लो, कल सुबह आकर मतलब समझाना। मतलब से गाने की तलब चली जाएगी।' चतुरी खखारकर गंभीर हो गया। फिर उसी तरह डिक्टेट करता रहा। बीच-बीच में ओजस्विता लाने के लिए चरस की पुट चलती रही। गाने में मुझे बड़ा आनंद आया। ताल पर तालियाँ देकर मैंने भी सहयोग किया। वे लोग ऊँचे दरजे के उन गीतों का मतलब समझते थे, उनकी नीचता पर यह एक आश्चर्य मेरे साथ रहा। बहुत से गाने आलंकारिक थे। वे उनका भी मतलब समझते थे।

रात तक मैं बैठा रहा। मुझे मालूम न था कि 'भगत' कराने के अर्थ रातभर गँवाने के हैं। तब तक आधी चरस भी खत्म न हुई थी। नींद ने जोर मारा। मैंने चतुरी से चलने की आज्ञा माँगी। चरस की ओर देखते हुए उसने कहा, 'काका, फिर कैसे काम बनेगा?' मैंने कहा, 'चतुरी, तुम्हारी काकी तो भगवान् के यहाँ चली गई, जानते ही हो, भोजन अपने हाथ पकाना पड़ता है, कोई दूसरा मदद के लिए है नहीं, जरा आराम न करेंगे तो कल उठ न पाएँगे।' चतुरी नाराज होकर बोला, 'तुम ब्याह करते ही नहीं, नहीं तो तेरह काकी आ जाएँ, हाँ वैसी तो।' मैंने कहा, 'चतुरी, भगवान् की इच्छा।' दु:खी हृदय से सहानुभूति दिखलाते हुए चतुरी ने कहा, 'काकी बहुत पढ़ी-लिखी थीं। मैंने हसार को कई चिट्ठियाँ उनसे लिखवाई हैं।' फिर चलती हुई चिलम में दम लगाकर धुआँ पीकर, सिर नीचे की ओर जोर से दबाकर नाक से धुवाँ निकालकर बैठे गले से बोला, 'काकी रोटी भी करती थीं, बरतन भी मलती थीं और रामायण भी पढ़ती थीं। बड़ा अच्छा गाती थीं काका, तुम वैसा नहीं गाते। बुढ़ऊ बाबा, (मेरे चाचा) दरवाजे बैठते थे–भीतर काकी रामायण पढ़ती थीं। गजलें और न जाने क्या-क्या टिल्लाना गाती थीं–क्यों काका?' मैंने कहा, 'हूँ! तुम लोग चतुरी गाओ, मैं दरवाजा बंद करके सुनता हूँ।'

जगने तक भगत होती रही। फिर कब बंद हुई, मालूम नहीं। जब आँख खुली तब काफी दिन चढ़ आया था। मुँह धोकर दरवाजा खोला, चतुरी बैठा एकटक दरवाजे की ओर देख रहा था। कबीर पदावली का अर्थ उससे किसी ने नहीं सुना। मैंने सुबह सुनने के लिए कहा था, वह आया हुआ है। मैंने कहा, 'क्यों चतुरी, रात सोए नहीं?' चतुरी सहज-गंभीर मुद्रा से बोला, 'सोकर जगे तो बड़ी देर हुई, बुलाने की वजह से आया हुआ हूँ।' जिनमें शक्ति होती है, अवैतनिक शिक्षक वही हो सकते हैं। मैंने कहा, 'मैं तैयार हूँ, पहले तुम कबीर साहब की कोई उल्टबासी को सीधी करो।' 'कौन सुनाऊँ?' चतुरी ने कहा, 'एक-से-एक बढ़कर हैं। मैं कबीरपंथी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं।' मैंने कहा, 'तुम पहुँचे हुए हो, यह मुझे कल ही मालूम हो गया था।' चतुरी आँख मूँदकर शायद साहब का ध्यान करने लगा, फिर सस्वर एक पद गुनगुनाकर गाने लगा, फिर एक-एक कड़ी गाकर अर्थ समझाने लगा। उसके अर्थ में अनर्थ पैदा करना आनंद खोना था। जब वह भाष्य पूरा कर चुका, जिस तरह के भाष्य से हिंदीवालों पर 'कल्याण' के निरामिष लेखों का प्रभाव पड़ सकता है, मैंने कहा, 'चतुरी, तुम पढ़े-लिखे होते तो पाँच सौ की जगह

पाते।' खुश होकर चतुरी बोला, 'काका, कहो तो अर्जुनवा (चतुरी का एक सत्रह साल का लड़का) को पढ़ाने के लिए भेज दिया करूँ तुम्हारे पास, पढ़ जाएगा, तुम्हारी विद्या ले लेगा, मैं भी अपनी दे दूँगाय तो कहो, भगवान् की इच्छा हो जाए तो कुछ हो जाए।' मैंने कहा, 'भेज दिया करो। दीया घर से लेकर आया करे। हमारे पास एक ही लालटेन है। बहुत नजदीक घिचेगा तो गाँववाले चौंकेंगे। आगे देखा जाएगा। लेकिन गुरु-दक्षिणा हम रोज लेंगे। घबराओ मत। सिर्फ बाजार से हमारे लिए गोश्त ले आना होगा और महीने में दो दिन चक्की से आटा पिसवा लाना होगा। इसकी मेहनत हम देंगे। बाजार तुम जाते ही हो।' चतुरी को इस सहयोग से बड़ी खुशी हुई। एक प्रसंग पर आने के विचार से मैंने कहा, 'चतुरी, तुम्हारे जूते की बड़ी तारीफ है।' खुश होकर चतुरी बोला, 'हाँ काका, दो साल चलता है।' उसमें एक दर्द भी दबा था। दु:खी होकर कहा, 'काका, जिमीदार के सिपाही को एक जोड़ा हर साल देना पड़ता है। एक जोड़ा भगवता देता है। एक जोड़ा पंचमा। जब मेरा ही जोड़ा मजे में दो साल चलता है तब ज्यादा लेकर कोई चमड़े की बरबादी क्यों करे?' कहकर डबडबाई आँखों से देखता हुआ जुड़े हाथों सेवई सी बटने लगा।

मुझे सहानुभूति के साथ हँसी आ गई। मगर हँसी को होंठों से बाहर न आने दिया। सँभलकर स्नेह से कहा, 'चतुरी, इसका वाजिबउल-अर्ज में पता लगाना होगा। अगर तुम्हारा जूता देना अर्ज होगा तो इसी तरह पुश्त-दर-पुश्त तुम्हें जूते देते रहने पड़ेंगे।'

चतुरी सोचकर मुसकराया। बोला, 'अब्दुल अर्ज में दर्ज होगा, क्यों काका?' मैंने कहा, 'देख लो, सिर्फ एक रुपया हक लगेगा।'

वक्त बहुत हो गया था। मुझे काम था। चतुरी को मैंने विदा किया। वह गंभीर होकर सिर हिलाता हुआ चला गया। मैं उसके मनोविकार पढ़ने लगा, 'वह एक ऐसे जाल में फँसा है, जिसे वह काटना चाहता है। भीतर से उसका पूरा जोर उभर रहा है। जिसमें बार-बार उलझकर रह जाता है।'

अर्जुन का आना जारी हो गया। उन दिनों बाहर मुझे कोई काम न था, देहात में रहना पड़ा। गोश्त आने लगा। समय-समय पर लोध, पासी, धोबी और चमारों का ब्रह्मभोज भी चलता रहा। घृतपक्व मसालेदार मांस की खुशबू से जिसकी भी लार टपकी, आप ही निमंत्रित होने को पूछा। इस तरह मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा, बल्कि हाउस ऑफ कॉमन्स हो गया। अर्जुन की पढ़ाई उत्तरोत्तर बढ़ चली। पहले-पहले जब दादा, मामा, काका, दीदी, नानी उसने सीखा तो हर्ष में

उसके माँ-बाप सम्राट् पद पाए हुए को छापकर छलके। सब लोग आपस में कहने लगे, अब अर्जुनवा 'दादा-दादी' पढ़ गया। अर्जुन अपने बाप चतुरी को दादा और माँ को दीदी कहता था। दूसरे दिन उसके बड़े भाई ने मुझसे शिकायत की, कहा, 'बाबा, अर्जुनवा और तो सब लिख-पढ़ लेता है, पर भैया नहीं लिखता।' मैंने समझाया कि किताब में दादी-दादा से भैया की इज्जत बहुत ज्यादा है, भैया तक पहुँचने में उसे दो महीने की देर होगी।

धीरे-धीरे आम पकने के दिन आए। अर्जुन अब दूसरी किताब समाप्त कर अपने खानदान में विशेष प्रतिष्ठित हो चला। कुछ नाजुक मिजाज भी हो गया। मोटा काम न होता था। आम खिलाने के विचार से मैं अपने चिरंजीव को लिवा लाने के लिए ससुराल चला गया। तब उसकी उम्र 9-10 साल की होगी। सोयम या चहर्रुम में पढ़ता था। मेरे यहाँ उसके मनोरंजन की चीज न थी। कोई स्त्री भी न थी, जिसके प्यार से वह बहला रहता। पर दो-चार दिन के बाद मैंने देखा कि वह ऊबा नहीं, अर्जुन से उसकी गहरी दोस्ती हो गई है। मैं अर्जुन के बाप के जैसा, वह भी अर्जुन का काका लगता था। यद्यपि उम्र में उससे पौने दो पट था, फिर भी पद और पढ़ाई में मेरे चिरंजीव बड़े थे, फिर यह ब्राह्मण के लड़के भी थे। अर्जुन को नई और इतनी बड़ी उम्र में उतने छोटे से काका को श्रद्धा देते हुए प्रकृति के विरुद्ध दबना पड़ता था। इसका असर अर्जुन के स्वास्थ्य पर तीन-चार दिन में ही प्रत्यक्ष हो चला। तब मुझे कुछ मालूम न था। अर्जुन शिकायत न करता था। मैं देखता था। जब मैं डाकखाना या बाहर गाँव से लौटता हूँ, मेरे चिरंजीव अर्जुन के यहाँ होते हैं या घर ही पर उसे घेरकर पढ़ाते रहते हैं। चमारों के टोले में गोस्वामीजी के इस कथन को-'मनहु मत्त गजगन निरखि-सिंह किसोरहिं चोप', वह कई बार सार्थक करते देख पड़े। मैं ब्राह्मण-संस्कारों की सब बातों को समझ गया। पर उसे उपदेश क्या देता? चमार दबेंगे, ब्राह्मण दबाएँगे। दवा है, दोनों की जड़ें मार दी जाएँ, पर सहज-साध्य नहीं। सोचकर चुप हो गया।

मैं अर्जुन को पढ़ाता था तो स्नेह देकर उसे अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर, उसके उच्चारण की त्रुटियों को पार करता हुआ। उसकी कमजोरियों की दरारें भविष्य में भर जाएँगी, ऐसा विचार रखता था। इसलिए उसमें कहाँ-कहाँ प्रमाद है, यह मुझे याद भी न था। पर मेरे चिरंजीव ने चार ही दिन में अर्जुन की सारी कमजोरियों का पता लगा लिया और समय-असमय उसे घर बुलाकर (मेरी गैर-हाजिरी में) उन्हीं कमजोरियों के रास्ते उसकी जीभ को दौड़ाते हुए अपना मनोरंजन करने लगे, मुझे बाद में मालूम हुआ।

सोमवार मियाँगंज के बाजार का दिन था। गोश्त के पैसे मैंने चतुरी को दे दिए थे। डाकखाना तब मगरायर था। वहाँ से बाजार नजदीक है। मैं डाकखाने से निबंध भेजने के लिए टिकट लेकर टहलता हुआ बाजार गया। चतुरी जूते की दुकान लिये बैठा था। मैंने कहा, 'कालिका (धोबी) भैया आए हुए हैं। चतुरी हमारा गोश्त उनके हाथ भेज देना। तुम बाजार उठने पर जाओगे, देर होगी।' चतुरी ने कहा, 'काका, एक बात है, अर्जुनवा तुमसे कहता डरता है, मैं घर आकर कहूँगा। बुरा न मानना लड़कों की बात का।' 'अच्छा', कहकर मैंने बहुत कुछ सोच लिया। बकर-कसाई के सलाम का उत्तर देकर बादाम और ठंडई लेने के लिए बनियों की तरफ गया। बाजार में मुझे पहचाननेवाले न पहचाननेवालों को मेरी विशेषता से परिचित करा रहे थे—चारों ओर से आँखें उठी हुई थीं, ताज्जुब यह था कि अगर ऐसा आदमी है तो मांस खाना जैसा घृणित पाप क्यों करता है। मुझे क्षणमात्र में यह सब समझ लेने का काफी अभ्यास हो गया था। गुरुमुख ब्राह्मण आदि मेरे घड़े का पानी छोड़ चुके थे। गाँव तथा पड़ोस के लड़के अपने-अपने भक्तिमान पिता-पितामहों को समझा चुके थे कि बाबा कहते हैं, मैं पानी-पाँड़े थोड़े ही हूँ, जो ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे सबको पानी पिलाता फिरूँ। इससे लोग नाराज हो गए थे। साहित्य की तरह समाज में भी दूर-दूर तक मेरी तारीफ फैल चुकी थी—विशेष रूप से जब एक दिन वलायत की रोटी-पार्टी की तारीफ करनेवाले एक देहाती स्वामीजी को मैंने कबाब खाकर काबुल में प्रचार करनेवाले रामचंद्रजी के वक्त के एक ऋषि की कथा सुनाई और मुझसे सुनकर वहीं गाँव के बाह्मणों के सामने बीड़ी पीने के लिए प्रचार करके भी मुझे नीचा नहीं दिखा सकेकृउन दिनों भाग्यवश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दीयासलाई लगाकर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुएँ से बढ़कर मेरे पास दूसरा महत्त्व नहीं।

मैं इन आश्चर्य की आँखों के भीतर बादाम और ठंडई लेकर जरा रीढ़ सीधी करने को हुआ कि एक बुढ्ढे पंडितजी एक देहाती भाई के साथ मेरी ओर बढ़ते नजर आए। मैंने सोचा, शायद कुछ उपदेश होगा। पंडितजी सारी शिकायत पीकर मधु-मुख हो, अपने प्रदर्शक से बोले, 'आप ही हैं?' उसने कहा, 'हाँ, यही हैं।' पंडितजी देखकर गद्गद हो गए। बोढ़ी उठाकर बोले, 'ओहो हो! आप धन्य हैं।' मैंने मन में कहा, 'नहीं, मैं धन्य हूँ, मजाक करता है खूसट।' पर गौर से उनका पग्गड़ और खौर देखकर कहा, 'प्रणाम करता हूँ पंडितजी।' पंडितजी मारे प्रेम के संज्ञा खो बैठे। मेरा प्रणाम मामूली प्रणाम नहीं, बड़े भाग्य से मिलता है।

मैं खड़ा पंडितजी को देखता रहा। पंडितजी ने अपने देहाती साथी से पूछा, 'आप बे-में सब पास हैं?' उनका साथी अत्यंत गंभीर होकर बोला, 'हाँ, जिला में दूसरा नहीं है।' होंठ काटकर मैंने कहा, 'पंडितजी, रास्ते में दो नाले और एक नदी पड़ती है। भेड़िए लागन हैं। डंडा नहीं लाया। आज्ञा हो तो चलूँ–शाम हो रही है।' पंडितजी स्नेह से देखने लगे। जो शिकायत उन्होंने सुनी थी। आँखों में उस पर संदेह था, दृष्टि कह रही थी, 'यह वैसा नहीं, जरूर गोश्त न खाता होगा। बीड़ी न पी होगी। लोग पाजी हैं।' प्रणाम करके, आशीर्वाद लेकर मैंने घर का रास्ता पकड़ा।

दरवाजे पर आकर रुक गया। भीतर बातचीत चल रही थी। प्रकाश कुछ-कुछ था। सूर्य डूब रहा था। मेरे पुत्र की आवाज आई, 'बोल रे बोल!' इस वीर रस का अर्थ मैं समझ गया। अर्जुन बोलता हुआ हार चुका था। पर चिरंजीव को रस मिलने के कारण बुलाते हुए हार न हुई थी। चूँकि बार-बार बोलना पड़ता था, इसलिए अर्जुन बोलने से ऊबकर चुप था। डाँटकर पूछा गया तो सिर्फ कहा, 'क्या?'

'वही गुण बोल।'

अर्जुन ने कहा, 'गुड़।'

बच्चे के अट्टहास से घर गूँज उठा। भरपेट हँसकर, स्थिर होकर फिर उसने आज्ञा की, 'बोल गणेश।'

रोनी आवाज में अर्जुन ने कहा, 'गणेश।' खिलखिलाकर, हँसकर, चिरंजीव ने डाँटकर कहा, 'गड़ास-गड़ास करता है, साफ नहीं कहना आता–क्यों रे, रोज दातौन करता है?'

अर्जुन अप्रतिभ होकर दबी आवाज में एक छोटी सी 'हूँ' करके, सिर झुकाकर रह गया। मैं दरवाजा धीरे से ढकेलकर भीतर खंभे की आड़ से देख रहा था। मेरे चिरंजीव उसे उसी तरह देख रहे थे जैसे गोरे कालों को देखते हैं। जरा देर चुप रहकर फिर आज्ञा की, 'बोल वर्ण।'

अर्जुन की जान आ पड़ी। मुझे हँसी भी आई, गुस्सा भी लगा। निश्चय हुआ, अब अर्जुन से विद्या का धनुष नहीं उठने का। अर्जुन वर्ण के उच्चारण में विवर्ण हो रहा था। तरह-तरह से मुँह बनाने का आनंद लेकर चिरंजीव ने फिर डाँटा, 'बोलता है या लगाऊँ झापड़। नहा लूँगा, गरमी तो है।'

मैंने सोचा, अब प्रकट होना चाहिए। मुझे देखकर अर्जुन खड़ा हो गया और आँखें मल-मलकर रोने लगा। मैंने पुत्र-रत्न से कहा, 'कान पकड़कर उठो-बैठो

दस दफे।' उसने नजर बदलकर कहा, 'मेरा कुसूर कुछ नहीं और मैं यों ही कान पकड़कर उठूँ-बैठूँ?' मैंने कहा, 'तुम इससे गुस्ताखी कर रहे थे।' उसने कहा, 'तो आपने भी की होगी। इससे 'गुण' कहला दीजिए। आपने पढ़ाया तो है, इसकी किताब में लिखा है।' मैंने कहा, 'तुम हँसते क्यों थे?' उसने कहा, 'क्या मैं जान-बूझकर हँसता था?' मैंने कहा, 'अब आज से तुम इससे बोल न सकोगे।' लड़के ने जबाव दिया, 'मुझे मामा के यहाँ छोड़ आइए। यहाँ डाल के आम खट्टे होते हैं, थोपी होती है, मुँह फदक जाता है, वहाँ पाल के आम आते हैं।'

चिरंजीव को नाई के साथ भेजकर मैंने अर्जुन और चतुरी को सांत्वना दी।

कुछ महीने और मुझे गाँव में रहना पड़ा। अर्जुन कुछ पढ़ गया। शहरों की हवा मैंने बहुत दिनों से न खाई थी—कलकत्ता, बनारस, प्रयाग आदि का सफर करते हुए लखनऊ में डेरा डाला—स्वीकृत किताबें छपवाने के विचार से। कुछ काम लखनऊ में और मिल गया। अमीनाबाद होटल में एक कमरा लेकर निश्चिंत चित्त से साहित्य साधना करने लगा।

इन्हीं दिनों देश में आंदोलन जोरों का चला—यही, जो चतुरी आदिकों के कारण फिस्स हो गया है। होटल में रहकर, देहात से आनेवाले शहरी युवक मित्रों से सुना करता था, गढ़ाकोला में भी आंदोलन जोरों पर है, छह-सात सौ तक का जो किसान लोग इस्तीफा देकर छोड़ चुके हैं, वह जमीन अभी तक नहीं उठी। किसान रोज इकट्ठा होकर झंडा गीत गाया करते हैं। सालभर बाद जब आंदोलन में प्रतिक्रिया हुई, जमींदारों ने दावा करना और रियाया को बिना किसी रियायत के दबाना शुरू किया, तब गाँव के नेता मेरे पास मदद के लिए आए, बोले, 'गाँव में चलकर लिखो। तुम रहोगे तो मार न पड़ेगी, लोगों को हिम्मत रहेगी। अब सख्ती हो रही है।' मैंने कहा, 'मैं कुछ पुलिस तो हूँ नहीं, जो तुम्हारी रक्षा करूँगा, फिर मार खाकर चुपचाप रहनेवाला धैर्य मुझमें बहुत थोड़ा है। कहीं ऐसा न हो कि शक्ति का दुरुपयोग हो।' गाँव के नेता ने कहा, 'तुम्हें कुछ करना तो है नहीं, बस बैठे रहना है।' मैं गया।

मेरे गाँव की कांग्रेस ऐसी थी कि जिले के साथ उसका कोई तअल्लुक न था—किसी खाते में वहाँ के लोगों के नाम दर्ज न थे। पर काम में पुरवा डिवीजन में उससे आगे दूसरा गाँव न था। मेरे जाने के बाद पता नहीं कितनी दरख्वास्तें तो जमींदार साहब ने इधर-उधर लिखीं।

कच्चे रंगों से रँगा तिरंगा झंडा महावीर स्वामी के सामने एक बड़े बाँस में गड़ा, बारिश से घुलकर धवल हो रहा था। इन दिनों मुकदमेबाजी और

तहकीकात जोरों से चल रही थी। कुछ किसानों पर एक साल के हरी-भूसे को तीन साल का बाकी बनाकर, जमींदार साहब ने दावे दायर किए थे, जो अपनी क्षुद्रता के कारण जमींदार ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट के पास आकर किसानों की दृष्टि में और भयानक हो रहे थे। एक दिन दरख्वास्तों के फलस्वरूप शायद दरोगाजी तहकीकात करने आए। मैं मगरायर डाक देखने जा रहा था। बाहर निकला तो लोगों ने कहा, 'दारोगाजी आए हैं, अभी रहो।' आगे दरोगाजी भी मिल गए। जमींदार साहब ने मेरी तरफ दिखाकर अंग्रेजी में धीरे से कुछ कहा। तब मैं कुछ दूर था, सुना नहीं। गाँववाले समझे नहीं, दरोगाजी झंडे की तरफ जा रहे थे। जमींदार शायद उखड़वा देने के इरादे से लिये जा रहे थे। महावीरजी के अहाते में झंडा देखकर दरोगाजी कुछ सोचने लगे, बोले, 'यह तो मंदिर का झंडा है।' देखा, उसमें कोई रंग न दीख पड़ा। जमींदार साहब को गौर से देखते हुए लौटकर डेरे की तरफ चले। जमींदार साहब ने बहुत समझाया कि यह बारिश से धुलकर सफेद हो गया है। लेकिन है यह कांग्रेस का झंडा। पर दरोगाजी बुद्धिमान थे। महावीरजी के अहाते में सफेद झंडे को उखड़वाकर वीरता प्रदर्शित करने की आज्ञा न दी। गाँव में कांग्रेस है, इसका पता न सब-डिवीजन में लगा, न जिले में, थानेदार साहब करें क्या?

उन दिनों मुझे उन्निद्र रोग था। इसलिए सिर के बाल साफ थे। मैंने सोचा कि वेश का अभाव है तो भाषा को प्रभावशाली करना चाहिएय नहीं तो थानेदार साहब पर अच्छी छाप न पड़ेगी। वहाँ तो महावीर स्वामी की कृपा रही, यहाँ अपनी ही सरस्वती का सहारा है। मैं ठेठ देहाती हो रहा था। थानेदार साहब ने मुझसे पूछा, 'आप कांग्रेस में हैं?' मैंने सोचा, 'इस समय राष्ट्रभाषा से राजभाषा का बढ़कर महत्त्व होगा।' कहा, 'मैं तो विश्व सभा का सदस्य हूँ।' इस सभा का नाम भी थानेदार साहब ने न सुना था। पूछा, 'यह कौन-सी सभा है?' उनके जिज्ञासा भाव पर गंभीर होकर, नोबुल पुरस्कार पाए हुए कुछ लोगों के नाम गिनाकर मैंने कहा, 'ये सब उसी सभा के सदस्य हैं।' थानेदार साहब क्या समझेय वह जानें। मुझसे पूछा, 'इस गाँव में कांग्रेस है?' मैंने सोचा, 'युधिष्ठिर की तरह सत्य की रक्षा करूँ तो असत्य-भाषण का पाप न लगेगा।' कहा, 'कहाँ इस गाँव के लोग तो कांग्रेस का मतलब भी नहीं जानते।' इतना कहके मैंने सोचा, 'अब ज्यादा बातचीत ठीक न होगी।' उठकर खड़ा हो गया और थानेदार साहब ने कहा, 'अच्छा, मैं चलता हूँ, जरा डाकखाने में काम है। चिट्ठीरसा हफ्ते में दो ही दिन गश्त पर आता है। मेरी जरूरी चिट्ठियाँ होती हैं और रजिस्ट्री, अखबार, मासिक

पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, फिर उस गाँव में हम लोगों की लाइब्रेरी भी है, जाना पड़ता है।' थानेदार साहब ने पूछा, 'कांग्रेस की चिट्ठियाँ आती हैं।' मैंने कहा, 'नहीं मेरी अपनी।' मैं चला आया। थानेदार साहब जमींदार साहब से शायद नाराज होकर गए।

इससे तो बचाव हुआ, पर मुकदमा चलता रहा। जमींदार ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट ने, जिनके एक रिश्तेदार जमींदार की तरफ से वकील थे, किसानों पर जमींदार को डिग्री दे दी। बाद में चतुरी वगैरह की बारी आई। दबे दायर हो गए, अब तक जो सम्मिलित धन मुकदमों में लग रहा था, सब खर्च हो गया। पहले की डिग्री में कुछ लोगों के बैल वगैरह नीलाम कर लिये गए। लोग घबरा गए। चतुरी को मदद की आशा न रही। गाँववालों ने चतुरी आदि के लिए दोबारा चंदा न लगाया।

चतुरी सूखकर मेरे सामने आकर खड़ा हुआ। मैंने कहा, 'चतुरी, मैं शक्ति भर तुम्हारी मदद करूँगा।'

'तुम कहाँ तक मदद करोगे, काका?' चतुरी जैसे कुएँ में डूबता हुआ उभरा।

'तो तुम्हारा क्या इरादा है?' उसे देखते हुए मैंने पूछा।

'मुकदमा लड़ूँगा। पर गाँववाले डर गए हैं, गवाही न देंगे।' दिल से बैठा हुआ चतुरी बोला। उस परिस्थिति पर मुझे भी निराशा हुई। उसी स्वर से मैंने पूछा, 'फिर चतुरी?'

चतुरी बोला, 'फिर छिदनी-पिरकिया आदि मालिक ही ले लें।'

मैंने गाँव में कुछ पक्के गवाह ठीक कर दिए। सत्तू बाँधकर, रेल छोड़कर पैदल दस कोस उन्नाव चलकर, दूसरी पेशी के बाद पैदल ही लौटकर हँसता हुआ चतुरी बोला, 'काका, जूता और पुर वाली बात अब्दुल-अर्ज में दर्ज नहीं है।'

हिरनी–सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

1.

कृष्णा की बाढ़ बह चुकी है, सुतीक्ष्ण, रक्त-लिप्त, अदृश्य दाँतों की लाल जिह्वा, योजनों तक, क्रूरय भीषण मुख फैलाकर, प्राणसुरा पीती हुई मृत्यु तांडव कर रही है। सहस्रों गृह-शून्य, क्षुधाक्लिष्ट, निःस्व जीवित कंकाल साक्षात् प्रेतों से इधर-उधर घूम रहे हैं। आर्तनाद, चीत्कार, करुणानुरोधों में सेनापति अकाल

की पुनः-पुनः शंख-ध्वनि हो रही है। इसी समय सजीव शान्ति की प्रतिमा-सी एक निर्वसना-बालिका शून्यमना दो शवों के बीच खड़ी हुई चिदम्बर को दीख पड़ी।

"ये तुम्हारे कौन हैं?" शवों की ओर इंगित कर वहीं की भाषा में चिदम्बर ने पूछा।

बालिका आश्चर्य की तन्मय दृष्टि से शवों को कुछ देर देखती रहकर शून्य भाव से अज्ञात मनुष्य की ओर देखने लगी।

चिदम्बर ने अपनी तरफ से पूछा-"ये तुम्हारे माँ-बाप हैं?"

बालिका की आँखें सजल हो आईं।

चिदम्बर ने सस्नेह कहा-"बेटी, हमारे साथ डेरे चलो, तुमको अच्छा-अच्छा खाना देंगे।"

बालिका साथ हो ली। उसकी अन्तरात्मा उसे समझा चुकी थी कि उसके माता-पिता उस नींद से न जगेंगे। उसे माता-पिता को सचेत करने का इतना उद्यम पहले कभी नहीं करना पड़ा, यहीं उसके प्राणों में उनके सदा अचेत रहने का अटल विश्वास हुआ।

पहले चिदम्बर ने अच्छी तरह, उसे अपना दुपट्टा पहना दिया, फिर उँगली पकड़कर धीरे-धीरे डेरे की ओर चला, जो वहाँ से कुछ ही फासले पर था।

अकाल-पीड़ितों की समुचित सेवा के लिए मदरास के 'पतित-पावन संघ' के प्रधान निरीक्षक की हैसियत से संघ को साथ लेकर चिदम्बर वहाँ गया था।

2.

कुछ दिनों बाद धन-संग्रह के लिए चिदम्बर को मद्रास जाना पड़ा। शिक्षण-पोषण के लिए अनाथ-आश्रम में भर्ती कर देने के उद्देश्य से बालिका को भी साथ ले गया। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि राजा रामनाथसिंह रामेश्वरजी के दर्शन कर कुछ दिनों से ठहरे हुए हैं, उसे मिल आने के लिए बुलावा भेजा था। चिदम्बर के पिता जज के पद से पेंशन लेकर कुछ दिनों तक राजा साहब के यहाँ दीवान रह चुके थे, उन दिनों चिदम्बर को पिता के पास युक्तप्रान्त में रहकर प्रयाग-विश्वविद्यालय में अध्ययन करना पड़ा था। अब उसके पिता नहीं हैं।

संवाद पा राजा साहब से मिलने के लिए चिदम्बर उनके वास-स्थल को गया। बाढ़ की बातचीत में बालिका का प्रसंग भी आया। चिदम्बर उसे अनाथ

आश्रम में परवरिश के लिए छोड़ रहा है, यह सुनकर कारुण्य-वश राजा साहब ने ही उसे अपने साथ सिंहपुर ले जाने के लिए कहा। चिदम्बर इनकार करे, ऐसा कारण न था, बालिका रानी साहिबा की देख-रेख में, उन्हीं के साथ, उनकी राजधानी गई।

3.

आठ साल की लड़की रानी साहिबा की दासियों से स्नेह तथा निरादर प्राप्त करती हुई, उन्हीं में रहकर, उन्हीं के संस्कारों में ढलती हुई धीरे-धीरे परिणत हो चली। वहाँ जो धर्म दासियों का, जो भगवान् रानी से सेविकाओं तक के थे, वही उसके भी हो गए। झूठ अपराध लगने पर दासियों की तरह वह भी कसम खाकर कहने लगी, "अगर मैंने ऐसा किया हो, तो सरकार, सीतला भवानी मेरी आँख ले लें।' वहाँ सभी हिन्दी बोलती थीं, पर जो मधुरता उसके गले में थी, वह दूसरे में न थीय जैसे हारमोनियम के तीसरे सप्तक पर बोलती हो। रानी साहिबा उससे प्रसन्न थीं। क्योंकि दूसरी दासियों से वह काम करने में तेज और सरल थी। उसका नाम हिरनी रक्खा था। वह जिस रोज रनिवास में आई थी, तब से आज तक, उसी तरह, अरण्य की, दल से छुटी हुई, छोटी हिरनी सी, एकाएक खड़ी होकर, सजग दृग, पार्श्व-स्थिति का ज्ञान-सा प्राप्त करने लगती है कि वह कहाँ आई, यहाँ कोई भय तो नहीं। दृष्टि के सूक्ष्मतम तार इस पृथ्वी के परिचय से नहीं, जैसे शून्य आकाश में बंधे हुए हों, जैसे उसे पृथ्वी पर उतार कर विधाता ने एक भूल की हो। उसके इस भाव के दर्शन से 'हिरनी' नाम, कवि के शब्द की तरह, रानी के कंठ से आप निकल आया था।

वही हिरनी अब जीवन के रूपोज्ज्वल वसन्त में कली की तरह मधु-सुरभि से भरकर चतुर्दिक सूचना-सी दे रही है कि प्रकृति की दृष्टि में अमीर और गरीबवाला क्षुद्र भेद-भाव नहीं, वह सभी की आँखों को एक दिन यौवन की ज्योत्स्ना से स्निग्ध कर देती है, किरणों के जल से भरकर, जीवन में एक ही प्रकार की लहरें उठाती हुई, परिचय के प्रिय पथ पर बहा ले जाती है, जो सबसे बड़ी है, जिसके भीतर ही बड़े और छोटे के नाम में भ्रम है, वह स्वयं कभी छोटे और बड़े का निर्णय नहीं करती, उसकी दृष्टि में सभी बराबर हैं, क्योंकि सब उसी के हैं। उसी ने हिरनी में एक आशा, एक अज्ञात सुख की आकांक्षा भी भर दी, जिससे दृष्टि में मद, मद में नशा, नशे में संसार के विजय की निश्चल भावना मनुष्य को स्त्री के प्रणय के लिए खींचती रहती है।

इसी समय इंग्लैंड से शिक्षा प्राप्त कर राजकुमार घर लौटे थे और दो-तीन बार हिरनी को बुला चुके थे। रानी दूसरी दासियों से यह समाचार पाकर हिरनी का विवाह कर देने की सोचनी लगीं। वहीं एक कहार रामगुलाम रहता था। नौजवान था। रानी साहिबा ने उससे पुछवाया कि हिरनी से विवाह करने को वह राजी है या नहीं। वह बहुत खुश हुआ, उत्तर में अपनी खुशी को दबाकर रानी साहिबा को खुश करने वाले शब्दों में कहा-"सरकार की जैसी मर्जी हो, सरकार की हुकुम-अदूली मुझसे न होगी।"

विवाह में घरवालों की राय न थी। रामगुलाम बागी हो गया।

एक दिन उसके साथ हिरनी का विवाह प्रासाद के आंगन में कर दिया गया। हिरनी पति के साथ रहने लगी। साल ही भर में एक लड़की की माँ हो गई।

4.

दो साल और पार हो गए। रानी साहिबा का स्नेह, हिरनी के कन्यास्नेह के बढ़ने के साथ-साथ, उस पर से घटने लगा। जिन दासियों की पहले उसके सामने न चलती थी, वे ताक पर थीं कि मौका मिले, तो बदला चुका लें।

एक दिन रानी साहिबा ताश खेल रही थीं। पक्ष और विपक्ष में उन्हीं की दासियाँ थीं। श्यामा उर्फ स्याही उन्हीं की तरफ थी। मौका अच्छा समझकर बोली-"सरकार को हिरनी ने आज फिर धोखा दियाय मैं गई थी, उसकी लड़की को जूड़ी-बुखार कहीं कुछ भी नहीं।"

लड़की की बीमारी के कारण हिरनी दो दिन की छुट्टी ले गई थी। रानी साहिबा पहले ही से नाराज थीं। अब धुआँ देती हुई लकड़ी को हवा लगी, वह जल उठी। रानी साहिबा ने उसी वक्त स्याही को एक नौकर से पकड़ लाने के लिए कहने को भेज दिया। स्याही पुलकित होकर बूटासिंह के पास गई। बूटासिंह से उसकी आशनाई थी। बोली, "सरकार कहती हैं, हिरनी का झोंट पकड़कर ले आओ, अभी ले आओ, बहुत जल्द।"

बूटासिंह जब गया, तब हिरनी बालिका के लिए वैद्य की दी एक दवा अपने दूध में घोल रही थी। बूटासिंह को मतलब समझाने के लिए तो कहा नहीं गया था। उसने झोंट पकड़कर खींचते हुए कहा-"चल, सरकार बुलाती हैं।"

प्रार्थथा की करुण चितवन से बूटासिंह को देखती हुई हिरनी बोली-"कुछ देर के लिए छोड़ दो, मयना को दवा पिला दूँ।"

घसीटता हुआ बूटासिंह बोला–"लौटकर दवा पिला चाहे जहर, सरकार ने इसी वक्त बुलाया है।"

स्याही साथ लेकर ऊपर गई। हिरनी रानी साहिबा की मुद्रा तथा क्रूर चितवन देखकर कांपने लगी।

रानी साहिबा ने हिरनी को पास पकड़ लाने के लिए स्याही से कहा। स्याही ने जोर से खींचा, पर हिरनी का हाथ छूट गया, जिससे वह गिर गई, हाथ मोच खाकर उतर गया।

रानी साहिबा क्रोध से काँपने लगीं। दूसरी दासियों को पकड़ लाने के लिए भेजा। इच्छा थी कि उसका सर दबाकर स्वयं प्रहार करें। दासियाँ पकड़कर ले चलीं, तो रानी साहिबा को आँसुओं में देखती हुई उसी अनिंद्य हिन्दी में हिरनी क्षमा-प्रार्थना करती हुई बोली–"सरकार, मेरा कुछ कुसूर नहीं है।"

पर कौन सुनता है, उससे रानी साहिबा की सेवा में कसर रह गई है।

जब पास पहुँची, उसको झुकाकर मारने के लिए रानी साहिबा ने घूँसा बाँधा।

हिरनी के मुख से निकला–"हे रामजी!"

रानी साहिबा की नाक से खून की धारा बह चली। यह वहीं मूर्च्छित हो गई। हिरनी के बाल, मुख उसी खून से रंग गए।

5.

डॉक्टरों ने आकर कहा, गुस्से से खून सर पर चढ़ गया है। तब से जरा भी गुस्सा करने पर रानी साहिबा को यह बीमारी हो जाती है।

श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी (व्यंग्य)– सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी श्रीमान् पं. गजानन्द शास्त्री की धर्मपत्नी हैं। श्रीमान् शास्त्री जी ने आपके साथ यह चौथी शादी की है, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी के पिता को षोडशी कन्या के लिए पैंतालीस साल का वर बुरा नहीं लगा, धर्म की रक्षा के लिए। वैद्य का पेशा अख्यितार किए शास्त्री जी ने युवती पत्नी के आने के साथ 'शास्त्रिणी' का साइन-बोर्ड टाँगा, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी जी उतनी ही उम्र में गहन पातिव्रत्य पर अविराम लेखनी चलाने लगीं, धर्म की रक्षा के लिए। मुझे यह कहानी लिखनी पड़ रही है, धर्म की रक्षा के लिए।

इससे सिद्ध है, धर्म बहुत ही व्यापक है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों का कहना है कि नश्वर संसार का कोई काम धर्म के दायरे से बाहर नहीं। संतान पैदा होने के पहले से मृत्यु के बाद पिंडदान तक जीवन के समस्त भविष्य, वर्तमान और भूत को व्याप्त कर धर्म-ही-धर्म है।

जितने देवता हैं, चूँकि देवता हैं, इसलिए धर्मात्मा हैं। मदन को भी देवता कहा है। यह जवानी के देवता हैं। जवानी जीवनभर का शुभ मुहूर्त है, सबसे पुष्ट, कर्मठ और तेजस्वी सम्मान्य, फलतः क्रियाएं भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण, धार्मिकता लिए हुए। मदन को कोई देवता न माने तो न माने पर यह निश्चय है कि आज तक कोई देवता इन पर प्रभाव न डाल सका। किसी धर्म, शास्त्र और अनुशासन के मानने वालों ने ही इनकी अनुवर्तिता की है। यौवन को भी कोई कितना निंद्य कहे, चाहते सब हैं, वृद्ध सर्वस्व भी स्वाहा कर। चिह्न तक लोगों को प्रिय हैं - खिजाब की कितनी खपत! धातु-पुष्टि की दवा सबसे ज्यादा बिकती है। साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, हेजलीन, वेसलीन, तेल-फुलेल के लाखों कारखानें हैं और इस दरिद्र देश में। जब न थे, रामजी और सीताजी उबटन लगाते थे। नाम और प्रसिद्धि कितनी है - संसार के सिनेमा-स्टारों को देख जाइए। किसी शहर में गिनिए - कितने सिनेमा-हाउस हैं। भीड़ भी कितनी - आवारागर्द मवेशी काइन्ज हाउस में इतने न मिलेंगे। देखिए -हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध, क्रिस्तान, सभी, साफा, टोपी, पगड़ी, कैप, हैट और पाग से लेकर नंगा सिर - घुटना तक, अद्वैतवादी, विशिष्टतावादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, साम्राज्यवादी, आतंकवादी, समाजवादी, काजी, सूफी से लेकर छायावादी तक, खड़े-बेड़े, सीधे-टेढ़े सब तरह के तिलक-त्रिपुंड, बुरकेवाली, घूंघटवाली, पूरे और आधे और चौथाई बाल वाली, खुली और मुंदी चश्मेवाली आंखें तक देख रही हैं। अर्थात संसार के जितने धर्मात्मा हैं, सभी यौवन से प्यार करते हैं। इसलिए उसके कार्य को भी धर्म कहना पड़ता है। किसी के न कहने, न मानने से वह अधर्म नहीं होता।

अस्तु, इस यौवन के धर्म की ओर शास्त्रिणी जी का धावा हुआ, जब वे पंद्रह साल की थीं अविवाहिता। यह आवश्यक था, इसलिए पाप नहीं। मैं इसे आवश्यकतानुसार ही लिखूंगा। जो लोग विशेष रूप से समझना चाहते हों, वे जितने दिन तक पढ़ सकें, काम-विज्ञान का अध्ययन कर लें। इस शास्त्र पर जितनी पुस्तकें हैं, पूर अध्ययन के लिए पूरा मनुष्य-जीवन थोड़ा है। हिंदी में अनेक पुस्तकें इस पर प्रकाशित हैं, बल्कि प्रकाशन को सफल बनाने के लिए

इस विषय की पुस्तकें आधार मानी गई हैं। इससे लोगों को मालूम होगा कि यह धर्म किस अवस्था से किस अवस्था तक किस-किस रूप में रहता है।

शास्त्रिणी जी के पिता जिला बनारस के रहने वाले हैं, देहात के, प्रयासी, सरयूपारीण ब्राह्मण, मध्यमा तक संस्कृत पढ़े घर के साधारण जमींदार, इसलिए आचार्य भी विद्वता का लोहा मानते हैं। गांव में एक बाग कलमी लंगड़े का है। हर साल भारत-सम्राट को आम भेजने का इरादा करते हैं, जब से वायुयान-कंपनी चली। पर नीचे से ऊपर को देखकर ही रह जाते हैं, सांस छोड़कर। जिले के अंग्रेज हाकिमों को आम पहुंचाने की पितामह के समय से प्रथा है। ये भी सनातन धर्मानुयायी हैं। नाम पं. रामखेलावन है।

रामखेलावन जी के जीवन में एक सुधार मिलता है। अपनी कन्या का, जिन्हें हम शास्त्रिणी जी लिखते हैं, नाम उन्होंने सुपर्णा रखा है। गांव की जीभ में इसका रूप नहीं रह सका, प्रोग्रसिव राइटर्स की साहित्यिकता की तरह 'पन्ना' बन गया है। इस सुधार के लिए हम पं. रामखेलावन जी को धन्यवाद देते हैं। पंडित जी समय काटने के विचार से आप ही कन्या को शिक्षा देते थे, फलस्वरूप कन्या भी उनके साथ समय काटती गई और पंद्रह साल की अवस्था तक सारस्वत में हिलती रही। फिर भी गांव की वधू-वनिताओं पर, उसकी विद्वता का पूरा प्रभाव पड़ा। दूसरों पर प्रभाव डालने का उसका जमींदारी स्वभाव था, फिर संस्कृत पढ़ी, लोग मानने लगे। गति में चापल्य उसकी प्रतिभा का सबसे बड़ा लक्षण था।

उन दिनों छायावाद का बोलबाला था, खास तौर से इलाहाबाद में लड़के पन्त के नाम का माला जपते थे। ध्यान लगाए कितनी लड़ाइयां लड़ीं प्रसाद, पन्त और माखनलाल के विवेचन में। भगवतीचरण बायरन के आगे हैं, पीछे रामकुमार, कितनी ताकत से सामने आते हुए। महादेवी कितना खीचती हैं।

मोहन उसी गांव का इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी.ए. (पहले साल) में पढ़ता था। यह रंग उस पर भी चढ़ा और दूसरों से अधिक। उसे पन्त की प्रकृति प्रिय थी और इस प्रियता से जैसे पन्त में बदल जाना चाहता था। संकोच, लज्जा, मार्जित मधुर उच्चारण, निर्भिक नम्रता, शिष्ट अलाप, सजधज उसी तरह। रचनाओं से रच गया। साधना करते सधी रचना करने लगा। पर सम्मेलन शरीफ अब तक नहीं गया। पिता हाई कोर्ट में क्लर्क थे। गर्मी की छुट्टियों में गांव आया हुआ है।

सुपर्णा से परिचय है जैसे पर्ण और सुमन का। सुमन पर्ण के ऊपर है, सुपर्णा नहीं समझी। जमींदार की लड़की, जिस तरह वहां की समस्त डालों के ऊपर अपने को समझती थी, उसके लिए भी समझी। ज्यों-ज्यों समय की हवा से हिलती थी, सुमन की रेणु से रंग जाती थी, वह उसी का रंग है। मोहन शिष्ट था, पर अपना आसन न छोड़ता था।

सुपर्णा एक दिन बाग में थी। मोहन लौटा हुआ घर आ रहा था। सुपर्णा रंग गई, बुलाया, मोहन फिर भी घर की तरफ चला।

'मोहन! ये आम बाबूजी दे गए हैं, ले जाओ। तकवाहा बाजार गया है।'

मोहन बाग की ओर चला। नजदीक गया तो सुपर्णा हंसने लगी, 'कैसा धोखा देकर बुलाया है? – आम बाबूजी ने तुम्हारे यहां कभी और भिजवाए हैं? मोहन लजाकर हंसने लगा।

'लेकिन तुम्हारे लिए कुछ आम चुनकर मैंने रखे हैं। चलो।'

मोहन ने एक बार संयत दृष्टि से उसे देखा। सुपर्णा साथ लिए बीच बाग की तरफ चली, 'मैंने तुम्हें आते देखा था, तुमसे मिलने को छिपकर चली आई। तकवाहे को सौदा लेने बाजार (दूसरे गांव) भेज दिया है। याद है मोहन ?'

'क्या?'

'मेरी गुइंइयों ने तुम्हारे साथ, खेल में।'

'वह तो खेल था।'

'नहीं वह सही था। मैं अब भी तुम्हें वही समझती हूं।'

'लेकिन तुम पयासी हो। शादी तुम्हारे पिता को मंजूर न होगी।'

'तो तुम मुझे कहीं ले चलो। मैं तुमसे कहने आई हूं। दूसरे से ब्याह करना मैं नहीं चाहती।'

मोहन की सुंदरता गांव की रहने वाली सुपर्णा ने दूसरे युवक में नहीं देखी। उसका आकर्षण उसकी मां को मालूम हो चुका था। उसका मोहन के घर जाना बंद था। आज पूरी शक्ति लड़ाकर, मौका देखकर मोहन से मिलने आई है। मोहन खिंचा। उसे वहां वह प्रेम न दिखा, वह जिसका भक्त था, कहा –

'लेकिन मैं कहां ले चलूं?'

'जहां रहते हो।'

'वहां तो पिताजी हैं।'

'तो और कहीं।'

'खाएंगे क्या?'

खाना पड़ता है, यह सुपर्णा को याद न था। मोहन से लिपटी जा रही थी। इसी समय तकवाहा बाजार से आ गया था। देखकर सचेत करने के लिए आवाज दी। सुपर्णा घबराई। मोहन खड़ा हो गया।

तकवाहा सौदा देकर मोहन को जमींदार की ही दृष्टि से घूरता रहा। मतलब समझकर मोहन धीरे-धीरे बाग से बाहर निकला और घर की ओर चला।

तकवाहा धार्मिक था। जैसा देखा था, पं. रामखेलावन जी से व्याख्या समेत कहा। साथ ही इतना उपदेश भी दिया कि मालिक! पानी की भरी खाल है, कल क्या हो जाए! बिटिया रानी का जल्द से ब्याह कर देना चाहिए।

पं. रामखेलावन जी भी धार्मिक थे। धर्म की सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने लगे तो मालूम पड़ा कि सुपर्णा के गर्भ है, नौ-दस महीने में लड़का होगा। फिर? इस महीने लगन है - ब्याह हो जाना चाहिए।

जल्दी में बनारस चले।

पं. गजानन्द शास्त्री बनारस के बैद्य हैं। वैदकी साधारण चलती है, बड़े दांव-पेंच करते हैं तब। पर आशा बहुत बढ़ी-चढ़ी है। सदा बड़े-बड़े आदमियों की तारीफ करते हैं और ऐस स्वर से, जैसे उन्हीं में ऐ एक हों। वैदकी चले इस अभिप्राय से शाम को रामायण पढ़ते-पढ़वाते हैं। तुलसी कृतय अर्थ स्वयं कहते हैं। गोस्वामी जी के साहित्य का उनसे बड़ा जानकार - विशेषकर रामायण का, भारतवर्ष में नहीं, यह श्रद्धापूर्वक मानते हैं। सुनने वाले ज्यादातर विद्यार्थी हैं, जो भरसक गुरु के यहां भोजन करके विद्याध्ययन करने काशी आते हैं। कुछ साधारण जन हैं, जिन्हें असमय पर मुफ्त दवा की जरूरत पड़ती है। दो-चार ऐसे भी आदमी, जो काम तो साधारण करते हैं, पर असाधारण आदमियों में गप लड़ाने के आदी हैं। मजे की महफिल लगती है। कुछ महीने हुए, शास्त्री जी की तीसरी पत्नी का असच्चिकित्सा के कारण देहांत हो गया है। बड़े आदमी की तलाश में मिलने वाले अपने मित्रों से शास्त्री जी बिना पत्नी वाली अड़चनों का बयान करते हैं और उतनी बड़ी गृहस्थी आठाबाठा जाती है - इसके लिए विलाप। सुपात्र सरयूपारीण ब्राह्मण हैं, मामखोर सुकुल।

पं. रामखेलावन जी बनारस में एक ऐसे मित्र के यहां आकर ठहरे, जो वैद्य जी के पूर्वोक्त प्रकार के मित्र हैं। रामखेलावन जी लड़की के ब्याह के लिए आए हैं, सुनकर मित्र ने उन्हें ऊपर ही लिया और शास्त्री जी की तारीफ करते हुए कहा, 'सुपात्र बनारस शहर में न मिलेगा। शास्त्री जी की तीसरी पत्नी अभी गुजरी हैं, फिर भी उम्र अभी अधिक नहीं, जवोन हैं।' शास्त्री, वैद्य, सुपात्र और उम्र

भी अधिक नहीं – सुनकर पं. रामखेलावन जी ने मन-ही-मन बाबा विश्वनाथ को दंडवत की और बाबा विश्वनाथ ने हिंदू-धर्म के लिए क्या-क्या किया है, इसका उन्हें स्मरण दिलाया – वे भक्तवत्सल आशुतोष हैं, यह यहीं से विदित हो रहा है – मर्यादा की रक्षा के लिए अपनी पुरी में पहले से वर लिए बैठे हैं – आने के साथ मिला दिया। अब यह बंधन न उखड़े, इसकी बाबा विश्वनाथ को याद दिलाई।

पं. रामखेलावन जी के मित्र पं. गजानन्द शास्त्री के यहां उन्हें लेकर चले। जमींदार पर एक धाक जमाने की सोची, कहा, 'लेकिन बड़े आदमी हैं, कुछ लेन-देन वाली पहले से कह दीजिए, आखिर उनकी बराबरी के लिए कहना ही पड़ेगा कि जमींदार हैं।'

'जैसा आप कहें।'

'कुल मिलाकर तीन हजार तो दीजिए, नहीं तो अच्छा न लगेगा।'

'इतना तो बहुत है।'

'ढाई हजार? इतने से कम में न होगा। यह दहेज की बात नहीं, बनाव की बात है।'

'अच्छा, इतना कर दिया जाएगा। लेकिन विवाह इसी लगन में हो जाना चाहिए।'

'मित्र चौंका। संदेह मिटाने के लिए कहा, 'भई, इस साल तो नहीं हो सकता।'

पं. रामखेलावन जी घबराकर बोले, 'आप जानते ही हैं ग्यारह साल के बाद लड़की जितना ही पिता के यहां रहती है, पिता पर पाप चढ़ता है। पंद्रह साल की है। सुंदर जोड़ी है। लड़की अपने घर जाए, चिंता कटे। जमाना दूसरा है।'

मित्र को आशा बंधी। सहानुभूतिपूर्वक बोले, 'बड़ा जोर लगाना पड़ेगा, अगले साल हो तो बुरा तो नहीं?'

पं. रामखेलावन जी चलते हुए रुककर बोले, 'अब इतना सहारा दिया है, तो खेवा पार ही कर दीजिए। बड़े आदमी ठहरे, कोई हमसे भी अच्छा तब तक आ जाएगा।'

मित्र को मजबूती हुई। बोले, 'उनकी स्त्री का देहांत हुआ है, अभी साल भी पूरा नहीं हुआ। बरखी से पहले मंजूर न करेंगे। लेकिन एक उपाय है, अगर आप करें।'

'आप जो भी कहें, हम करने को तैयार हैं, भला हमें ऐसा दामाद कहां मिलेगा?'

'बात यह कि कुल श्राधें एक ही महीने में करवानी पड़ेगीं और फिर ब्रह्मभोज भी तो है और बड़ा। कम-से-कम तीन हजार खर्च होंगे। फिर तत्काल विवाह। आप तीन हजार रुपए भी दीजिए। पर उन्हें नहीं। अरे रे! - इसे वे अपमान समझेंगे। हम दें। इससे आपकी इज्जत बढ़ेगी और आखिर हमें बढ़कर उनसे कहना भी तो है कि बराबर की जगह है? हजार जब उनके हाथ पर रखेंगे कि आपके ससुरजी ने बरखी के खर्च के लिए दिए हैं, तब यह दस हजार के इतना होगा, यही तो बात थी। वे भी समझेंगे।'

पं. रामखेलावन जी दिल से कसमसाए, पर चारा न था। उतरे गले से कहा, 'अच्छा बात है।' मित्र ने कहा, 'तो रुपए कब तक भेजिएगा? अच्छा, अभी चलिए–देख तो लीजिए, विवाह की बातचीत न कीजिएगा, नहीं तो निकाल ही देंगे। समझिए - पत्नी मरी हैं।'

रामखेलावन दबे। धीरे-धीरे चलते गए। 'लड़की कुछ पढ़ी भी है? पढ़ती थी - तीन साल हुए, जब मैं गया था, गवाही थी - मौका देखने के लिए?' मित्र ने पूछा।

'लड़की तो सरस्वती है। आपने देखा ही है। संस्कृत पढ़ी है।'

'ठीक है। देखिए, बाबा विश्वनाथ हैं।' मित्र की तरह पर उतरे गले से कहा।

रामखेलावन जी डरे कि बिगाड़ न दे। दिल से जानते थे, बदमाश है, उनकी तरफ से झूठ गवाही दे चुका है, रुपए लेकर, लेकिन लाचार थे, कहा, 'हम तो आपमें बाबा विश्वनाथ को ही देखते हैं। यह काम आपका बनाया बनेगा।'

मित्र हंसा। बोला, 'कह तो चुके। गाढ़े में काम न दे, वह मित्र नहीं, दुश्मन है।' सामने देखकर, 'वह शास्त्री जी का ही मकान है, सामने।' था वह किराये का मकान। अच्छी तरह देखकर कहा, 'हैं नहीं बैठक में, शायद पूजा में हैं।'

दोनों बैठक में गए। मित्र ने पं. रामखेलावन जी को आश्वासन देकर कहा, 'आप बैठिए। मैं बुलाए लाता हूं।'

पं. रामखेलावन जी एक कुर्सी पर बैठे। मित्रवर आवाज देते हुए जीने पर चढ़े।

जिस तरह मित्र ने यहां रोब गांठा था, उसी तरह शास्त्री जी पर गांठना चाहा। वह देख चुका था, शास्त्री खिजाब लगाते हैं, अर्थ – विवाह के सिवा दूसरा नहीं। शास्त्री जी बढ़-चढ़कर बातें करते हैं, यह मौका बढ़कर बातें करने का है। उसका मंत्र है, काम निकल जाने पर बेटा बाप का नहीं होता। उसे काम निकालना है।

शास्त्री जी ऊपर एकांत में दवा कूट रहे थे। आवाज पहचानकर बुलाया। मित्र ने पहुंचने के साथ देखा – खिजाब ताजा है। प्रसन्न होकर बोला, 'मेरी मानिए, तो वह ब्याह कराऊं, जैसा कभी किया न हो और बहू अप्सरा, संस्कृत पढ़ी, रुपया भी दिलाऊं।'

शास्त्री जी पुलकित हो उठे। कहा, 'आप हमें दूसरा समझते हैं? – इतनी मित्रता रोज की उठक-बैठक, आप मित्र ही नहीं – हमारे सर्वस्व हैं। आपकी बात न मानेंगे तो क्या रास्ता-चलते की मानेंगे? – आप भी !'

'आपने अभी स्नान नहीं किया शायद? नहाकर चंदन लगाकर अच्छे कपड़े पहनकर नीचे आइए। विवाह करने वाले जमींदार साहब हैं। वहीं परिचय कराऊंगा। लेकिन अपनी तरफ से कुछ कहिएगा मत। नहीं तो, बड़ा आदमी है, भड़क जाएगा। घर की शेखी में मत भूलिएगा। आप जैसे उसके नौकर हैं। हां, जन्म-पत्र अपना हरगिज न दीजिएगा। उम्र का पता चला तो न करेगा। मैं सब ठीक कर दूंगा। चुपचाप बैठे रहिएगा। नौकर कहां है?'

'बाजार गया है।'

'आने पर मिठाई मंगवाइएगा। हालांकि खाएगा नहीं। मिठाई से इंकार करने पर नमस्कार करके सीधे ऊपर का रास्ता नापिएगा। मैं भी यह कह दूंगा, शास्ती तजी ने आधे घंटे का समय दिया है।'

शास्त्री गजानन्द जी गदगद हो गए। ऐसा सच्चा आदमी यह पहला मिला है, उनका दिल कहने लगा। मित्र नीचे उतरा और मित्र से गंभीर होकर बोला, 'पूजा में हैं, मैं तो पहले ही समझ गया था। दस मिनट के बाद आंख खोली, जब मैंने घंटी टिनटिनाई। जब से स्त्री का देहांत हुआ है, पूजा में ही तो रहते हैं। सिर हिलाकर कहा – चलो। देखिए, बाबा विश्वनाथ ही हैं। हे प्रभो! शरणागत-शरण! तुम्हीं हो – बाबा विश्वनाथ!' कहते हुए मित्र ने पलकें मूंद लीं।

इसी समय पैरों की आहट मालूम थी। देखा, नौकर आ रहा था। डांटकर कहा, 'पंखा झल। शास्त्री जी अभी आते हैं।'

नौकर पंखा झलने लगा। वैद्य का बैठका था ही। पं. रामखेलावन जी प्रभाव में आ गए। आधे घंटे बाद जीने में खड़ाऊं की खटक सुन पड़ी। मित्र उठकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया, उंगली के इशारे पं. रामखेलावन जी को खड़े हो जाने के लिए कहकर। मित्र की देखा-देखी पंडित जी ने भी भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ लिए। नौकर अचंभे से देख रहा था। ऐसा पहले नहीं देखा था।

शास्त्री जी के आने पर मित्र ने घुटने तक झुककर प्रणाम किया। पं. रामखेलावन जी ने भी मित्र का अनुसरण किया। 'बैठिए, गदाधर जी' कोमल सभ्य कंठ से कहकर गजानंद जी अपनी कुर्सी पर बैठ गए। वैद्यजी की बढ़िया गद्दीदार कुर्सी बीच में थी। पं. रामखेलावन जी आश्चर्य और हर्ष से देख रहे थे। आश्चर्य इसलिए कि शास्त्री जी बड़े आदती तो हैं ही, उम्र भी अधिक नहीं, 25 से 30 कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

शास्त्री जी ने नौकर को पान और मिठाई ले आने के लिए भेजा और स्वाभाविक बनावटी विनम्रता के साथ मित्रवर गदाधर ने आगंतुक अपरिचित महाशय का परिचय पूछने लगे। पं. गदाधर जी बड़े दात्त कंठ से पं. रामखेलावन जी की प्रशंसा कर चले, पर किस अभिप्राय से वे गए थे, यह न कहा। कहा, 'महाराज! आप एक अत्यंत आवश्यक गृहधर्म से मुक्त होना चाहते हैं।

पलकें मूंदते हुए, भावावेश में, शास्त्री जी ने कहा, 'काशी तो मुक्ति के लिए प्रसिद्ध है।'

'हां, महाराज!' मित्र ने और आविष्ट होते हुए कहा, 'वह छूट तो सबसे ड़ी मुक्ति है, पर यह साधारण मुक्ति ही है, जैसे बाबा विश्वनाथ के परमसिद्ध भक्त स्वीकारमात्र से इस भव-बंधन से मुक्ति दे सकते हैं।' कहकर हाथ जोड़ दिए। पं. रामखेलावन जी ने भी साथ दिया।

हां, नहीं, कुछ न कहकर एकांत धार्मिक दृष्टि को परम सिद्ध पं. गजानन्द जी शास्त्री पलकों के अंदर करके बैठ रहे।

इसी समय नौकर पान और मिठाई ले आया। शास्त्री जी ने खटक से आंखें खोलकर देखा, नौकर को शुद्ध जल ले आने के लिए कहकर बड़ी नम्रता से पं. रामखेलावन जी को जलपान करने के लिए पूछा। पं. रामखेलावन जी दोनों हाथ उठाकर जीभ काटकर सिर हिलाते हुए बोले, 'नहीं महाराज, नहीं, यह तो अधर्म है। चाहिए तो हमें कि हम आपकी सेवा करें, बल्कि आपके सेवा संबंध में सदा के लिए -'

'अहाहा! क्या कही! - क्या कही!' कहकर, पूरा दोना उठाकर एक रसगुल्ला मुंह में छोड़ते हुए मित्र ने कहा, 'बाबा विश्वनाथ जी के वर से काशी का एक-एक बालक अंतर्यामी होता है, फिर उनकी सभा के परिषद शास्त्री जी तो -'

शास्त्री जी अभिन्न स्नेह की दृष्टि से प्रिय मित्र को देखते रहे। मित्र ने, स्वल्पकाल में रामभवन का प्रसिद्ध मिष्ठान्न उदरस्थ कर जलपान के पश्चात मगही बीड़ों की एक नत्थी मुखव्यादान कर यथा स्थान रखी। शास्त्री जी विनयपूर्वक नमस्कार कर जीना तै करने को चले। उनके पीठ फेरने पर मित्र ने रामखेलावन जी को पंजा दिखाकर हिलाते हुए आश्वासन दिया। शास्त्री जी के अदृश्य होने पर इशारे से पं. रामखेलावन जी को साथ लेकर वासस्थल की ओर प्रस्थान किया।

रामखेलावन जी के मौन पर शास्त्री जी का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ चुका था। कहा, 'अब हमें इधर से जाने दीजिए, कल रुपए लेकर आएंगे। लेकिन इसी महीने विवाह हो जाएगा?'

'इसी महीने - इसी महीने', गंभीर भाव से मित्र ने कहा, 'जन्मपत्र लड़की का लेते आइएगा। हां, एक बात और है। बाकी डेढ़ हजार में बाहर सौ का जेवर होना चाहिए, नया, आइएगा हम खरीदवा देंगे', दलाली की सोचते हुए - कहा, 'आपको ठग लेगा। आप इतना तो समझ गए होंगे कि इतने के बिना बनता नहीं, तीन सौ रुपए रह जाएंगे। खिलाने-पिलाने और परजों को देने की बहुत है। बल्कि कुछ बच जाएगा आपके पास। फिजूल खर्च हो यह मैं नहीं चाहता। इसीलिए, ठोस-ठोस काम वाला खर्च कहा। अच्छा, नमस्कार!'

शास्त्री जी का ब्याह हो गया। सुपर्णा पति के साथ है। शास्त्री जी ब्याह करते-करते कोमल हो गए थे। नवीना सुपर्णा को यथाभ्यास सब प्रकार प्रीत रखने लगे।

बाग से लौटने पर सुपर्णा के हृदय में मोहन के लिए क्रोध पैदा हुआ। घरवालों ने सख्त निगरानी रखने के अलावा, डर के मारे उससे कुछ नहीं कहा। उसने भी विरोध किए बिना विवाह के बहाव में अपने को बहा दिया। मन में यह प्रतिहिंसा लिए हुए, कि मोहन इस बहते में मिलेगा और उसे हो सकेगा तो उचित शिक्षा देगी। शास्त्री जी को एकांत भक्त देखकर मन में मुस्कराई।

सुपर्णा का जीवन शास्त्री जी के लिए भी जीवन सिद्ध हुआ। शास्त्री जी अपना कारोबार बढ़ाने लगे। सुपर्णा को वैदक की अनुवादित हिंदी पुस्तकें देने

लगे, नाड़ी-विचार चर्चा आदि करने लगे। उस आग में तृण की तरह जल-जलकर जो प्रकाश देखने लगे, वह मर्त्य में उन्हें दुर्लभ मालूम दिया। एक दिन श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी के नाम से स्त्रियों के लिए बिना फीस वाला रोग परीक्षणालय खोल दिया - इस विचार से कि दवा के दाम मिलेंगे, फिर प्रसिद्धि होने पर फीस भी मिलेगी।

लेकिन ध्यान से सुपर्णा के पढ़ने का कारण कुछ और है। शास्त्री जी अपनी मेज की सजावट तथा प्रतीक्षा करते रोगियों के समय काटने के विचार से 'तारा' के ग्राहक थे। एक दिन सुपर्णा 'तारा' के पन्ने उलटने लगी। मोहन की एक रचना छिपी थी। यह उसकी पहली प्रकाशित कविता थी। विषय था 'व्यर्थ प्रणय'। बात बहुत कुछ मिलती थी। लेकिन कुछ निंदा थी - जिस प्रेस से कवि स्वर्ग से गिरा जाता है - उसकी। काव्य की प्रेमिका का उसमें वहीं प्रेम दर्शाया गया था। सुपर्णा चौंकी। फिर संयत हुई और नियमित रूप से 'तारा' पढ़ने लगी।

एक साल बीत गया। अब सुपर्णा हिंदी में मजे में लिख देती है। मोहन से उसका हाड़-हाड़ जल रहा था। एक दिन उसने पातिव्रत्य पर एक लेख लिखा। आजकल के छायावाद के संबंध में भी पढ़ चुकी थी और बहुत कुछ अपने पति से सुन चुकी थी। काशी हिंदी के सभी वादों की भूमि है। प्रसाद काशी के ही हैं। उनके युवक पाठक शिष्य अनेक शास्त्रियों को बना चुके हैं। पं. गजानन्द शास्त्री गंगा नहाते समय कई बार तर्क कर चुके हैं, उत्तर भी भिन्न मुनि के भिन्न मत की तरह अनेक मिल चुके हैं। एक दिन शास्त्री जी के पूछने पर एक ने कहा, 'छायावाद का अर्थ है शिष्टतावाद, छायावादी का अर्थ है सुंदर साफ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करने वाला, जो छायावादी है, वह सुवेश और मधुरभाषी है, जो छायावादी नहीं है वह काशी के शास्त्रियों की तरह अंगोछा पहनने वाला है या नंगा है।' दूसरे दिन दो थे। नहा रहे थे। शास्त्री जी भी नहा रहे थे। 'छायावाद क्या है?' - शास्त्री जी ने पूछा। उन्होंने शास्त्री जी को गंगा में गहरे ले जाकर डुबाना शुरू किया, जब कई कुल्ले पानी पी गए, तब छोड़ा, शिथिल होकर शास्त्री जी किनारे आए, तब लड़कों ने कहा, 'यही है छायावाद।' फलतः शास्त्री जी छायावाद और छायावादी से मौलिक घृणा करने लगे थे और जिज्ञासु षोडशी प्रिया को समझाते रहे कि छायावाद वह है, जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है तरह-तरह से। आइडिया के रूप में, सुपर्णा जैसी ओजस्विनी लेखिका के लिए इतना बहुत था। आदि से अंत तक उसके लेख में प्राचीन पतिव्रत धर्म और नवीन छायावादी व्यभिचार प्रचारक के कंठ से बोल रहा

था। शास्त्री जी ने कई बार पढ़ा और पत्नी को सती समझकर मन-ही-मन प्रसन्न हुए। वह लेख संपादकजी के पास भेजा गया। संपादकजी लेखिका मात्र को प्रोत्साहित करते हैं ताकि हिंदी की मरुभूमि सरस होकर आबाद हो, इसलिए लेख या कविता के साथ चित्र भी छापते हैं। शास्त्रिणी जी को लिखा। प्रसिद्धि के विचार से शास्त्री जी ने एक अच्छा सा चित्र उतरवाकर भेज दिया। शास्त्रिणी जी का दिल बढ़ गया। साथ में उपदेश देने वाली प्रवृत्ति भी।

इसी समय देश में आंदोलन शुरू हुआ। पिकेटिंग के लिए देवियों की आवश्यकता हुई - पुरुषों का साथ देने के लिए भी। शास्त्रिणी जी की मारफत शास्त्री जी का व्यवसाय अब तक भी न चमका था। शास्त्री जी ने पिकेटिंग में जाने की आज्ञा दे दी। इसी समय महात्माजी बनारस होते हुए कहीं जा रहे थे, कुछ घंटों के लिए उतरे। शास्त्री जी की सलाह से एक जेवर बेचकर, शास्त्रिणी जी ने दो सौ रुपए की थैली उन्हें भेंट की। तन, मन और धन से देश के लिए हुई इस सेवा का साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव पड़ा। सब धन्य-धन्य कहने लगे। शास्त्रिणी जी पूरी तत्परता से पिकेटिंग करती रहीं। एक दिन पुलिस ने दूसरी स्त्रियों के साथ उन्हें भी लेकर एकांत में, कुछ मील शहर से दूर, संध्या समय छोड़ दिया। वहां से उनका मायका नजदीक था। रास्ता जाना हुआ। लड़कपन में वहां तक वे खेलने जाती थीं। पैदल मायके चली गईं। दूसरे देवियों से नहीं कहा, इसलिए कि ले जाना होगा और सबके लिए वहां सुविधा न होगी। प्रातरूकाल देवियों की गिनती में यह एक घटी, संवाद-पत्रों ने हल्ला मचाया। ये तीन दिन बाद विश्राम लेकर मायके से लौटीं और शोक-संतप्त पतिदेव को और उच्छृंखल रूप से बड़बड़ाते हुए संवाद पत्रों को शांत किया - प्रतिवाद लिखा कि संपादकों को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिए।

आंदोलन के बाद इनकी प्रैक्टिस चमक गई। बड़ी देवियां आने लगीं। बुलावा भी होने लगा। चिकित्सा के साथ लेख लिखना भी जारी रहा। ये बिल्कुल समय के साथ थीं। एक बार लिखा, 'देश को छायावाद से जितना नुकसान पहुंचा है, उतना गुलामी से नहीं।' इनके विचारों का आदर नीम-राजनीतिज्ञों में क्रमशः जोर पकड़ता गया। प्रोग्रेसिव राइटर्स ने भी बधाइयां दीं और इनकी हिंदी को आदर्श मानकर अपनी सभा में सम्मिलित होने के लिए पूछा। अस्तु शास्त्रिणी जी दिन-पर-दिन उन्नति करती गई। इस समय नया चुनाव शुरू हुआ। राष्ट्रपति ने कांग्रेस को वोट देने के लिए आवाज उठाई। हर जिले में कांग्रेस उम्मीदवार खड़े हुए। देवियां भी। वे मर्दों के बराबर हैं। शास्त्रिणी जी भी जौनपुर से खड़ी होकर

सफल हुई। अब उनके सम्मान की सीमा न रही, एम.एल.ए. हैं। 'कौशल' में उनके निबंध प्रकाशित होते थे। लखनऊ आने पर 'कौशल' के प्रधान संपादक एक दिन उनसे मिले और 'कौशल' कार्यालय पधारने के लिए प्रार्थना की। शास्त्रिणी जी ने गर्वित स्वीकारोक्ति दी।

'कौशल' कार्यालय सजाया गया। शास्त्रिणी जी पधारीं। मोहन एम.ए. होकर यहां सहकारी है, लेकिन लिखने में हिंदी में अकेला। शास्त्रिणी जी ने देखा। मोहन ने उठकर नमस्कार किया। 'आप यहां', शास्त्रिणी जी ने प्रश्न किया। 'जी हां', मोहन ने नम्रता से उत्तर दिया, श्यहां सहायक हैं।' शास्त्रिणी जी उद्धत भाव से हंसी। उपदेश के स्वर में बोलीं, 'आप गलत रास्ते पर थे!

'भेड़िया, भेड़िया' सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

एक चरवाहा लड़का गाँव के जरा दूर पहाड़ी पर भेड़ें ले जाया करता था। उसने मजाक करने और गाँववालों पर चढ्ढी गाँठने की सोची। दौड़ता हुआ गाँव के अंदर आया और चिल्लाया, 'भेड़िया, भेड़िया! मेरी भेड़ों से भेड़िया लगा है।'

गाँव की जनता टूट पड़ी। भेड़िया खेदने के हथियार ले लिए। लेकिन उनके दौड़ने और व्यर्थ हाथ-पैर मारने की चुटकी लेता हुआ चरवाहा लड़का आँखों में मुसकराता रहा। समय-समय पर कई बार उसने यह हरकत की। लोग धोखा खाकर उतरे चेहरे से लौट आते थे।

एक रोज सही-सही उसकी भेड़ों में भेड़िया लगा और एक के बाद दूसरी भेड़ तोड़ने लगा। डरा हुआ चरवाहा गाँव आया और 'भेड़िया-भेड़िया' चिल्लाया।

गाँव के लोगों ने कहा, 'अबकी बार चकमा नहीं चलने का। चिल्लाता रह।'

लड़के की चिल्लाहट की ओर उन लोगों ने ध्यान नहीं दिया। भेड़िये ने उसके दल की कुल भेड़ें मार डालीं, एक को भी जीता नहीं छोड़ा।

इस कहानी से यह नसीहत मिलती है कि जो झूठ बोलने का आदी है, उसके सच बोलने पर भी लोग कभी विश्वास नहीं करते।

❐❐❐